हिन्दी कथा साहित्य में किसान और समावेशी विकास की राजनीति

(1990 से 2015)

HINDI KATHA SAHITYA ME KISAN AUR SMAVESHI VIKAS KI RAJNEETI

(1990 TO 2015)

(पी-एच.डी. (हिन्दी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

शोध निर्देशक
प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी
विजय कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2018

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली-110067, भारत / New Delhi-110 067, india

Dated 23 /07 / 2018

DECLARATION

I declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitle **"HINDI KATHA SAHITYA ME KISAN AUR SMAVESHI VIKAS KI RAJNEETI " (1990 TO 2015)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

VIJAY KUMAR
(Research Scholar)

23/7/18

PROF. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

JNU और संघर्षशील साथियों के लिए

"तुम ने जिस ख़ून को मक़्तल में दबाना चाहा
आज वो कूचा ओ बाज़ार में आ निकला है
कहीं शोला कहीं नारा कहीं पत्थर बन कर
ख़ून चलता है तो रुकता नहीं संगीनों से
सर उठाता है तो दबता नहीं आईनों से
ज़ुल्म की बात ही क्या ज़ुल्म की औक़ात ही क्या
ज़ुल्म बस ज़ुल्म है आग़ाज़ से अंजाम तलक"

-साहिर

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका **i-xv**

पहला अध्याय: समावेशी विकास की राजनीति और भारतीय किसान **1-36**

1.1. भारतीय कृषि पर विश्व व्यापर संगठन का प्रभाव
1.2. विकास की राजनीति और किसान
1.3. भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में किसान

दूसरा अध्याय: समकालीन कथा साहित्य का वैचारिक आधार और समावेशी विकास की राजनीति **37-75**

2.1. समकालीन यथार्थ का संकट बोध और साहित्य की दुनिया
2.2. समकालीन परिदृश्य में किसान: जीवन कथा साहित्य और तंत्र का यथार्थ

तीसरा अध्याय: समावेशी विकास की राजनीति और ग्रामीण संरचना में किसान संघर्ष **76-124**

3.1. ग्रामीण घर समाज
3.2. किसान जीवन की जमीन: सपने और संघर्ष
3.3. मुआवजा, बैंक और किसान

चौथा अध्याय: समावेशी विकास की राजनीति और अन्य सामाजिक समूह **125-159**

4.1. आर्थिक आधार पर किसान की स्थिति
4.2. आर्थिक विकास और अन्य सामाजिक समूह

पाँचवाँ अध्याय: समावेशी विकास की राजनीति, कथा संरचना और भाषा का राजनीतिक संदर्भ **160-195**

5.1. कथा साहित्य के संरचना में किसान
5.2. भाषा का राजनीतिक संदर्भ

उपसंहार **196-206**

संदर्भ ग्रन्थ सूची **207-212**

भूमिका

हमारे सामने रोजाना आ रही खबरों में सबसे 'कॉमन' खबर के रूप में देश के किसी कोने से आनेवाली किसान आत्महत्या की खबर है। आज की तारीख में देश का कोई कोना नहीं बचा हुआ है, जहां किसान आत्महत्याएं नहीं कर रहें हों। हमारा देश अपनी समस्याओं के कारण ही एक सूत्र में बंधा हुआ है। अभाव ने यहाँ के नागरिकों को जीवन दर्शन दिया है, संघर्ष दिया है, जीने की अदम्य इच्छाशक्ति दी है। 1990 के बाद के दिनों में जब देश प्रगति की चकाचौंध में फर्राटे भरने लगा तब इस देश के 'सृजनहार' आत्महत्या करने लगे। प्रश्न है कि यह आत्महत्या क्यों होने लगी? पिछले 20 वर्ष के समय में किसान आत्महत्या रुकने के बजाए चौगुनी रफ्तार से क्यों बढ़ने लगी? इसने यह सोचने पर विवश कर दिया कि पीएचडी के शोध-कार्य के जरिये क्यों न देश के किसान की स्थिति के बारे में जाना-समझा जाए। क्योंकि एक ऐसा कृषि प्रधान देश जहां 66 प्रतिशत आबादी किसानी के पेशे में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है, वहाँ के किसान आत्महत्या करने को विवश हैं। आखिर ऐसी क्या वजह है कि कर्मठता, जिजीविषा और धैर्य के पर्याय के रूप में प्रचलित किसान आज आत्महत्या की वजह से चर्चा में आ रहा है। आज हर 8 घंटे में एक किसान आत्महत्या कर रहा है, इस औसत के साथ भारत दुनिया में किसान आत्महत्या की सबसे बड़ी कौम बन गया है। यह स्वयं में एक गंभीर और चिंतनीय विषय है। किसान को आज इतना कमजोर और बेबस बना दिया गया है कि वह कड़ी मेहनत के बाद मंडियों में अपने अनाज के साथ दम तोड़ दे रहा है और हमारे नीति-निर्माता कान में तेल डाल वातानुकूलित कमरों में सो रहें हैं। किसान खेती के लिए कर्ज़ लेता है, फसल पैदा करने के बाद उचित दाम नहीं मिलने के कारण वह कर्ज़ के पैसे को लौटाने की एवज में अपनी जान दे देता है और अगर वह जान देने से बच जाता है तो उसके लिए एकमात्र विकल्प है 'विस्थापन'। व्यवस्था अपनी निर्ममता के साथ किसान का कभी पीछा नहीं छोडती है।

प्रश्न है कि किसान के सरोकार हमारे हिस्से के सरोकार से कैसे अलग हो गए हैं? भारतीय सामाजिक संरचना में किसान का सवाल जमीन के सवाल से जुड़ा हुआ है। भूमि व्यवस्था की उपलब्धता और उसके वितरण से किसान का अन्योनाश्रय संबंध होता है। भारतीय किसान के संबंध में भूमि किसान के जीवन का पर्याय है। वह उसके जीने का

एकमात्र कारण और साधन है, जिसे वह मरते दम तक नहीं खोना चाहता है। यद्यपि भारतीय गांवों का समुचित और चौतरफा विकास कभी नहीं हुआ और उसके कारण भूमि का संतुलित वितरण भी भारत में नहीं हो पाया। आज 52 प्रतिशत किसान के ऊपर कोई न कोई कर्ज़ है, कर्ज़ का औसत 47,000 रुपए प्रति व्यक्ति है, जबकि देश की कुल जनसंख्या का मात्र एक फीसदी लोगों के पास देश की कुल संपति का 53 फीसद है। आय के इस असमान वितरण ने देश की एक दूसरी ही तस्वीर पेश करती है।

किसी भी साहित्य की सफलता यही होती है कि उसमें झांक रहा समय या उसके परिवेश की सामाजिक उथल-पुथल कितनी प्राणवान है। यदि भारतवर्ष की चेतना के तल को स्पर्श करना है, तो किसान जीवन को प्राथमिकता के तौर पर ग्रहण करना होगा। भारत का चेतना सम्पन्न सर्जनात्मक साहित्य वहीं उपस्थित होता है, जहाँ भारतीय गाँव और किसान जीवन अपने समग्रता में उपस्थित हो। इतिहास और सामाजिक विज्ञान के अन्य अनुशासन् आंकड़े तो प्रस्तुत कर देते हैं लेकिन साहित्य उस मनोवृति को पकड़ता है जिसके कारण समाज में बदलाव आता है। इसलिए उपन्यासकर **कार्सोस फुएंते** ने कहा है कि "इतिहास जिनकी हत्या करता है, कला उसको जीवन देती है। इतिहास जिनकी आवाज सुनने से इंकार करता है, कला में उसकी आवाज सुनाई देती है"। साहित्य में किसानों की त्रासदी से दूरी एक चिंता का विषय है।

जिस देश में किसान को आधारभूमि के रूप में देखा जाता था, आज विडम्बना है कि खुद किसान भी नहीं चाहता है कि उसका बेटा बड़ा होकर किसान बने। कृषि लगातार घाटे का उपक्रम बनती जा रही है। गरीब किसानों के भूख का हल निकालने के नाम पर सरकार द्वारा खाद्य सुरक्षा विधेयक का झुनझुना पकड़ा दिया जा रहा है। इस देश का **राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन** चिल्लाता रहा है कि देश का हर दूसरा किसान कर्जदार है। 'आंध्र प्रदेश' में 81प्रतिशत, तमिलनाडु में 74.5प्रतिशत, पंजाब में 65.4प्रतिशत, केरल में 64.4प्रतिशत, कर्नाटक में 61.6प्रतिशत, महाराष्ट्र में 36 लाख तथा उत्तर प्रदेश में 60.9प्रतिशत किसान कर्जदार हैं। **एन. सी. आर. वी.** के हवाले से संसद के शीतकालीन सत्र में यह स्वीकार किया जाता है कि वर्ष 2010 में 26 राज्यों में 15,000 किसानों ने आत्महत्या की। अब प्रश्न यह उठता है कि इस त्रासद स्थिति का

कारण क्या है? क्या सरकार द्वारा बनाया गया किसानी का मॉडल विनाश कि परिणति तक जाने को अभिशप्त है? या फिर कहीं ऐसा तो नहीं कि खेती-किसानी की अपेक्षा किसानों और किसानी को हेय दर्शाने की नीति वर्तमान विकासनीति के केंद्र में है।

हिन्दी साहित्य में किसानों को लेकर बहुत-सी कविताएँ और आलोचना लिखी गयी हैं। लेकिन सही अर्थों में किसानों की मनोवृत्ति को दर्शाने का काम हिन्दी कथा साहित्य ने किया है। प्रेमचंद के साहित्य में किसान, कथा-साहित्य का बड़ा केंद्र बनता है। शिवपूजन सहाय, रेणु , नागार्जुन, राही मासूम रज़ा, विवेकी राय, रामदरश मिश्र, जगदीश चन्द्र, शिव प्रसाद सिंह, मधुकर सिंह, विद्यासागर नौटियाल, शिवमूर्ति आदि ऐसे कथाकार हैं, जिनके यहाँ किसान जीवन का विविध रूप दिखाई पड़ता है। हाँ, यह सही है कि कथा साहित्य में स्वातंत्रयोत्तर रचनाकारों में ये मनोवृत्ति घर करने लगी कि शहरी या महानगरीय यथार्थ ही बेहद जटिल है। ये मनोवृत्ति खासकर यूरोप के लिखे गए महानगरीय जीवन के साहित्य को बेहतर साहित्य मानने की धारणा से उपजी थी। इसका एक बड़ा कारण था ग्रामीण व्यक्तियों का बड़े पैमाने पर शहरों और महानगरों की तरफ पलायन। एक बड़े पैमाने पर किसानों का मजदूर में बदलना, इसी पलायन और त्रासदी का उदाहरण है। यह पलायन कोई आम पलायन नहीं है। जब एक किसान कहीं पलायन करता है तो सिर्फ एक किसान 'व्यक्ति' रूप में नहीं विस्थापित होता है बल्कि उसके साथ एक संस्कृति एक लोकानुभाव और संसार भी विस्थापित होता है। आज इस किसान संस्कृति और उसके अनुभव-संसार को बचाने की चिंता भले ही सरकार को न हो, ज़्यादातर मुख्यधारा के साहित्यकारों को न हो, लेकिन सन् 1990 के बाद कुछ ऐसे उपन्यासकार और कहानीकार हैं जिन्होंने अपने कथा का माध्यम किसान जीवन को बनाया है, जिसका अध्ययन, विश्लेषण और विवेचन जरूरी है।

भारत में सन् 1990 के बाद 'समावेशी विकास' का एक बड़ा नारा चला। आधिकारिक तौर पर 'समावेशी विकास' शब्द को 11वीं पंचवर्षीय (2007-2012) योजना में शामिल किया गया, लेकिन उसके पहले सन् 2000 में राष्ट्रिय कृषि नीति के तहत किसानों के समावेशी विकास को लक्ष्य बनाया गया। ध्यान से देखें तो यह समावेशी विकास भारत के किसानों के लिए और ज्यादा दमनकारी और शोषणकारी ही साबित हुआ। भारतीय मंडियों से ताल्लुक रखने वाला खुदरा क्षेत्र, यहाँ पूंजीपति और

उत्पादक किसान के बीच एक धूर्त दलाल की तरह व्यवहार करने वाला होता चला गया। हिन्दी कथा साहित्य में बनिया, महाजन के शोषण की अमानवीय घटनाओं से जन्म लेने वाली त्रासदी को प्रेमचंद से लेकर अब तक के साहित्यकार लगातार अभिव्यक्त करते रहे हैं। सामाजिक विज्ञान के आंकड़ों ने तो यह दर्शा दिया है कि 'नई आर्थिक नीति' के बाद किसान जीवन में कितना बदलाव आया है, लेकिन इस बदलाव में भारतीय समाज की मनोवृत्ति में क्या बदलाव आया है इसको समझना बहुत जरूरी है। किसी भी समाज का सच आंकड़ों से ज्यादा मनोवृत्ति में झलकता है। यही कारण है कि किसी भी देश का 'साहित्य वहाँ की जनता के चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता' है। अगर आम भारतीय समाज की मनोवृत्ति और जीवन को समझना है तो किसान जीवन के इस बदलाव को समझे बिना एकांगी अध्ययन ही होगा।

यह शोध प्रारूप समावेशी विकास और उसका भारतीय किसान के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। हिन्दी कथा-साहित्य में किसान और समावेशी विकास की राजनीति के अन्तःसम्बन्धों को जब तक व्याख्यायित नहीं किया जाएगा, तब तक 1990 के बाद के भारतीय समाज और जीवन को सही अर्थों में नहीं समझा जा सकता है। सन् 1990 के बाद कुछ उपन्यास और कहानियां इस बदलाव की त्रासदी को बहुत ही सार्थक ढंग से विवेचित करती हैं, जो इस शोध का आधार हैं।

सन् 1990 विश्व इतिहास के पटल पर महत्वपूर्ण समय है। यह वही समय है जब सोवियत संघ का विभाजन हुआ, उसके फलस्वरूप विश्व-भर में पूंजीवादी व्यवस्था को पूरी क्रूरता के साथ पाँव पसारने के लिए एक राजनीतिक अवसर भी मिला। भारतीय जनमानस और साहित्य भी इससे अछूता नहीं था। 1990 में विकास की 'नई आर्थिक नीति' भारत में लागू होती है। सरकार चारों तरफ एक डंका बजाती है कि अब भारतीय समाज नई दुनिया में प्रवेश कर रहा है। भारत विश्वग्राम से जुड़ रहा है और उसका गाँव विश्वगाँव बन रहा है। विकास के नए-नए मॉडल आ रहे हैं, लेकिन इस विकास के मॉडल का स्वरूप कैसा था इस पर ठहरकर विचार करने की जरूरत है।

सन् 1990 के बाद लगातार मेहनतकश किसानों पर अस्तित्व के संकट बढ़ते जा रहे हैं। 1990 के बाद जहां एक तरफ निर्ममता से निजीकरण, उदारीकरण तथा

भूमंडलीकरण की नीति को बड़े पैमाने पर अपनाया गया, वही दूसरी तरफ किसानों के लिए उसके बुनियादी सवालों को छोड़ लोक-लुभावन नीतियों को लागू किया गया। किसानों के मुद्दे महज चुनावी घोषणापत्र में सिमट कर रह गए हैं। अब किसान-आत्महत्या आंध्र और महाराष्ट्र तक ही सीमित नहीं है। बल्कि पूरा देश किसानों की आत्महत्याओं और विस्थापन की जद में है। अब सिर्फ पंजाब में 'गाँव बिकाऊ है' के बैनर टंगे नहीं मिलते हैं बल्कि पूरे देश के गांवों की कमोबेश यही स्थिति है। वैसे तो हर मेहनतकश आवाम बदहाली के दलदल में है, लेकिन किसान जीवन इस बदहाली की मार को सबसे अधिक झेल रहा है। यह एक बहुत ही घातक प्रक्रिया है। इसकी शुरुआत मोटे तौर पर बीसवीं सदी के नौवें दशक के अंत (1990) के करीब स्पष्ट दिखाई देने लगती है। उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियाँ इस किसान-विरोधी कार्यवाही का स्पष्टतः नया प्रस्थान बिन्दु है। वैसे तो इस प्रक्रिया की शुरुआत काफी पहले पूंजीवादी व्यवस्था के उदय और विकास के साथ ही हो गयी थी, लेकिन इसको गति देने का काम औद्योगिक-क्रान्ति के दौरान हुआ। खासकर अपार ऐश्वर्य और अंतहीन धन-लिप्सा की पूंजीवादी मनोवृत्ति के साथ। इन्हीं मनोवृत्तियों का उत्कट रूप उदारीकरण के साथ हो रहे विकास के माध्यम से खुलकर सामने आया है। बाजार और सरकार ने गठजोड कर सभी माध्यमों और व्यक्तियों पर कब्जा करने के अपने साजिश को सफल बना लिया है। इस माहौल में भी पूरी तरह उनकी गिरफ्त में आने से, अगर कोई थोड़ा बचा हुआ था तो वह किसान ही था। इसलिए अब बाजार और सरकार दोनों मिलकर किसानी संस्कृति को नेस्तनाबूद करने का अभियान चला रहे हैं, जिसका परिणाम है किसान आत्महत्या।

सन् 1980 के बाद से हम देखते हैं कि कोई देशव्यापी आन्दोलन किसान समस्याओं को लेकर सामने नहीं आता। 1980 और उसके बाद के वर्षों में समूची राजनीति का स्वर बदलने लगता है। उसके केंद्र में विकास नामक एक लोक-लुभावन शब्द आता है। जिसके इर्द-गिर्द पूरी राजनीति घूमने लगती है। इसी विकासवाद का परिणाम होता हैं हरित क्रांति जैसे मुहावरे, जो किसान को एकबारगी केंद्र में तो लाते हैं लेकिन वहां उनकी समस्याएं नहीं बल्कि उन बिचौलियों की बातों को प्रमुख बना दिया जाता है जो दिन-प्रतिदिन किसानी को केवल एक फायदे के व्यापार के रूप में देखते हैं। इस दौर में किसान एवं किसानी के तौर-तरीके पर उदारवादी विकास का बड़ा प्रभाव पड़ता है। किसानी को और उन्नत एवं विकसित बनाने के नाम पर उसके परम्परागत तरीके को बदल दिया जाता है, जो किसान के लिए बड़े संकट का कार्य करती है । यह

संकट कहीं बीज की समस्या को लेकर पैदा होता है तो कही सिचाई की समस्या को लेकर । हकीकत तो यह है कि विकास के नाम पर केवल खोखले वादे किये गए, जिसका परिणाम यह हुआ है कि आज कृषि की बुनियाद ही खतरे में पड़ गई है ।

वर्तमान समय में हम देखते हैं कि कृषि की हिस्सेदारी देश के सकल घरेलु उत्पाद में निरंतर गिरती चली जा रही है, जो हमारे नीति-निर्माताओं के लिए चिंता का विषय ही नहीं है ! 1995 में विश्व व्यापार संगठन के अंतर्गत कृषि पर समझौता के कारण, सदस्य देशों के किसानों को दी जाने वाली सहायता राशि को बाध्यकारी रूप से कम करने की अनिवार्यता लागू हुई। इसके कारण सरकार किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी(सहायता राशि) को लगातार कम करती जा रही है। किसानी-सम्बन्धी सुझाव को लेकर 2006 में सौपीं गयी स्वामीनाथन समिति की रिपोर्ट को आज तक लागू नहीं किया गया है, जबकि स्वामीनाथन समिति के रिपोर्ट का प्रमुख लक्ष्य था 'faster and inclusive growth' का सुझाव, जो 11वीं पंचवर्षीय योजना का केंद्र बिंदु भी था। 1990 के बाद से भारतीय राजनीति में किसान सम्बन्धी मुद्दे गायब होते जा रहे हैं। 1995 में डंकल प्रस्ताव के विरोध में दिल्ली में बड़े प्रदर्शन के बाद कोई बड़ा विरोध किसान मुद्दे पर नहीं हुआ तथा किसान सम्बन्धी राजनीतिक पार्टियों का ख़त्म होने का चलन भी इस दौरान बढ़ा। राजू शर्मा के उपन्यास 'हलफनामा' में मुख्यमंत्री महोदय किसानों के वोट बटोरने के इरादे से 'किसान आत्महत्या योजना' की घोषणा करते हैं। यह योजना प्रदेश के उन किसानों के लिए है जो आत्महत्या करते हैं। इस योजना के जरिये उपन्यासकार सरकार की निर्दयता और उसके फरेब का वृत्तांत रचता है। निजीकरण तथा उदारीकरण की नीतियों के परिणाम स्वरूप आंचलिक स्तर पर काम करने वाली सहकारी समितियों का विघटन शुरू हो गया। खाद, बीज और कीटनाशक दवाइयां बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लाभकारी उत्पाद बन गईं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दबाव के चलते शासक वर्गीय पार्टियाँ भी किसान मुद्दे पर ध्यान नहीं देती है। कृषि सम्बन्धी मुद्दे पर बड़ी जन-गोलबंदी न होने का प्रमुख कारण किसानों के बीच में समरूपता का न होना है ।

सन् 1990 के बाद कथा-साहित्य में किसान जीवन एवं उसकी समस्याओं को लेकर कम ही रचनाएँ सामने आती हैं, लेकिन कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ भी इस दौर में लिखी गयी हैं, जो किसान जीवन एवं उनकी समस्यायों की अभिव्यक्ति यथार्थपूर्वक ढंग से करती हैं। जिस समावेशी विकास की राजनीति के नाम पर किसान के विकास का

दावा किया जा रहा है, उसकी पड़ताल इन रचनायों में प्रमुखता से की गयी है। जिसमें प्रमुख उपन्यास है, वीरेंदर जैन का 'डूब'(1991), बनाफर चन्द्र का 'जमीन'(2004), राजू शर्मा का 'हलफनामे'(2006) संजीव का 'फांस'(2015), सुनील चतुर्वेदी का 'कालीचाट'(2015), शिवमूर्ती का 'आखिरी छलांग' (2008)।

इन उपन्यासों में उस किसान का मर्मभेदी मूक विलाप है, जिसकी स्थिति हिन्दुस्तान में कभी भी सम्पन्नता की नहीं रही। सामंती दौर में किसान महाजन के काल का ग्रास बनता था आज कॉर्पोरेट पूंजी उन्हें अपना ग्रास बना रही है। उदारीकरण के दौर में उपजे नए महाजन हैं, उनकी कल्याणकारी योजनायें हैं जो किसानों के लिए नागफाश का काम करती हैं। आज 'हीरो होंडा' गाडी लेने के लिए बैंक लोन दे देता है लेकिन खेती के लिए लोन की कोई सुविधा नहीं हैं। किसान को हमेशा विपरीत परिस्थितियों में क़र्ज़ लेना पड़ता हैं, जिससे उसका हमेशा का नाता रहा है, उदारीकरण के बाद आई विकास की अंधी दौड़ में भी वह अपनी खेती-किसानी में इससे उबर नहीं पाया हैं । सरकार की गलत नीतियों का परिणाम यह होता है कि मंडियों में दलाल मुनाफा कमाते हैं और किसान निरंतर दुर्दशा से ग्रसित रहता है। 1990 के बाद के दोनों दशकों में सरकारों द्वारा किसानों की उपेक्षा से किसानों में आत्महत्या की प्रवृति लगातार बढ़ी है। खाद महँगी, बीज महंगा और कीटनाशकों का खर्चा अलग से, लेकिन फसल के मूल्य में कोई बढ़ोतरी नहीं, यह किसान जीवन का कड़वा यथार्थ है।

किसान और उनकी समस्याओं को ध्यान में रखकर जो रचना की जा रही है उन रचनाओं में जमीन छिन जाने का दर्द प्रमुखता से आया है। जमीन किसान जीवन की एकमात्र पूंजी है जिस पर वह अपने सपने को बुनता है और संभावनाओं की तलाश करता है। जमीन जिसे हड़पने के लिए कल तक साहूकार, सेठ एवं गाँव के सामंत थे, वहीं आज की तारीख में किसानों की जमीन को बैंक के जरिये हड़पा जा रहा है और वहाँ से न हो पाये तो निजी कंपनियों के साथ मिलकर सरकार विकास के नाम पर हड़प रही है। जमीन निकल जाने के बाद किसान के पास कोई उपाय नहीं बचता है कि वह अपना जीवन-यापन कैसे चलाये? भूमिहीन हो जाने के बाद उसके पास जो उपाय बचता है उसमें वह विवश होकर आत्महत्या कर लेता है, या कही पलायन कर वह रेहड़ी- पटरी का मजदूर बन जाता है। महेश कटारे की कहानी "कूकाल के हंटर" में कहानी पात्र

धनवाती कहती है "जमीन जाते ही हम किसान से मजदूर हो जाएंगे"। यह चिंता किसान आधारित कथा-कहानी की एक प्रमुख चिंता है।

हम देखते हैं कि वर्तमान समय में जो छोटे किसान हैं उन्हें निरन्तर यह चिंता सता रही है कि इस पूंजीवादी व्यवस्था में उनके लिए जीवन जीने की जगह कम हो गई है। गाँव के सामन्तों, बड़े किसानों की जमीन बढ़ रही है लेकिन जो मेहनतकश हैं, कम बीघे वाले हैं उनकी जमीन इंच-दर-इंच कम होती जा रही है, फलस्वरूप हालत यह उत्पन्न हो रही है कि वे किसान से खेतिहर मजदूर बन जाते है।

किसान अपनी मजबूरीयों के साथ समझौता नहीं करता है बल्कि वह लड़ने की कोशिश भी करता है। इस लड़ने की कोशिश में वह नए रास्ते अख़्तियार करता है, नई सोच-विचार को भी सामने लता है। अनीता भारती की कहानी "बीज बैंक" में बीज की समस्या को लेकर किसान जब निजी कंपनियों के कर्ज़ के जाल में डूब जाता है, तो वह उन निजी कंपनियों के मुनाफे के जद से बाहर निकलने की कोशिश भी करता है, जिसमें गाँव में ही एक बीज बैंक स्थापित करने का प्रस्ताव पारित किया जाता है और वह ध्वनि मत से पारित हो जाता है ।

यह शोधकार्य किसान जीवन की त्रासदी को ध्यान में रखते हुए समावेशी विकास और उसकी राजनीति को समझने का एक प्रयास है। प्रथम अध्याय **'समावेशी विकास की राजनीति और भारतीय किसान'** में स्वतंत्रता के पश्चात भारत में हुये किसान संबंधी नीतियों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हुये, यह समझने का प्रयास किया गया है कि मुख्यधारा की राजनीति में किसानों से जुड़े मुद्दे और किसान आंदोलन पर भारतीय राजनीति ने अपना क्या रुख अख़्तियार किया है। समावेशी विकास की अवधारणा क्या है? नीतिगत स्तरों के साथ-साथ किसान जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ा, इसका आकलन किया गया है? क्योंकि नीतिगत स्तर पर हुये व्यापक बदलाव के बाद अर्थात् 1991 की LPG नीति के पश्चात समावेशी विकास की राजनीति में आर्थिक तथा सामाजिक रूप से किसानों को मुख्यधारा में लाने की बात पर बल दिया जाने लगा गया था। विश्व व्यापार संगठन के दबाव में किसानों को दी जाने वाली सहायता राशि

(Subsidy) को भारतीय राज्य पर कम करने का दबाव था, वहीं दूसरी तरफ 50 प्रतिशत से ज्यादा कृषि पर आधारित जनसंख्या को मुख्यधारा में लाने का सवाल था। समावेशी विकास के अंतर्गत ही भूमि अधिग्रहण, खनन, उर्वर भूमि पर उद्योग लगाने, सेज़ (SEZ) इत्यादि आते हैं। इस राजनीति के तहत एक तरफ़ तो किसान को उद्योग की तरफ धकेला जा रहा है, वहीं दूसरी तरफ़ 1991 के बाद समावेशी विकास का नाम बार-बार दुहराया जा रहा है। समावेशी विकास की राजनीति में किसानों की मौजूदा स्थिति क्या है, इसका सम्यक मूल्यांकन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

वहीं दूसरे अध्याय **'समकालीन कथा-साहित्य का वैचारिक आधार और समावेशी विकास की राजनीति'** में भारतीय किसान पलायन, विस्थापन, आत्महत्या और प्रतिरोध में से अपनी वैचारिकी कहाँ निर्मित करता है? समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में उसको किस रूप में विवेचित किया गया हैं? इस तथ्य का मूल्यांकन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। प्रभुत्वशाली सत्ता का शोषण तथा उसके खिलाफ किसानों का सांस्कृतिक प्रतिरोध समकालीन दौर में किस रूप में है और प्रतिरोध में किस तरह की वैचारिक पृष्ठभूमि बनती है, इसका विवेचन इस अध्याय का लक्ष्य रहा। हम जानते हैं कि किसी भी कृषि प्रधान देश में किसानी केवल जीविका का साधन नहीं है बल्कि उसके लिए सम्मान की एक वस्तु भी है, जिसके 'मरजाद' में वह आत्महत्या तक कर जाता है। सन् 1990 के बाद का कथा साहित्य किसान समुदाय के नए सवालों को बखूबी उभारा है और ग्रामीण समाज के बदलाव को भी। नव-उदारवाद के बाद से किसान और गाँव किस तरह प्रभावित हो रहे हैं और समकालीन कथा साहित्य में उसका चित्रण किस रूप में हुआ है, इसका विश्लेषण इस अध्याय में प्रस्तुत है। 1990 के पहले किसान-कथा में संघर्ष था, गाँव था, जिजीविषा थी, पर 1990 के बाद के चित्रण में संघर्ष की जगह आत्महत्या ले लेती है, अब गाँव से केवल किसान-मजदूर ही नहीं बल्कि पूरा का पूरा गाँव विस्थापित होता चला जा रहा है। आधुनिकीकरण के बाद भूमंडलीकरण तक की यात्रा में किसान चित्रण के विविध आयाम और उसके संघर्ष किस-किस रूप में कथा साहित्य में दिखलाई पड़ते हैं, इसको समग्रता से देखने की कोशिश इस अध्याय में की गई है।

तीसरा अध्याय '**समावेशी विकास की राजनीति और ग्रामीण संरचना में किसान संघर्ष**' है। इस अध्याय में कथा साहित्य के जरिये ग्रामीण संरचना और किसान सघर्ष में आए बदलाव को किस रूप में रेखांकित किया गया है, इसको विश्लेषित किया गया है। देश की तकरीबन 83.3 करोड़ की आबादी ग्रामीण इलाकों में बसती है, और वह अपने जीवन यापन के लिए कृषि पर निर्भर है या कृषि आधारित ग्रामीण उद्योग-धंधो पर। ऐसे में किसानों की खुशहाली की बात तो सभी करते हैं और उसके लिए योजनाएँ भी बनती हैं, लेकिन मूलभूत समस्या अभी भी ज्यों कि त्यों बनी हुई है। इस अध्याय में यह विश्लेषित किया गया है कि बदलते हुये परिवेश में गाँव और किसान क्या रूप ग्रहण कर रहे हैं? उसका भावी स्वरूप क्या है? उसमे किसान की स्थिति क्या है? उसका संघर्ष क्या है? ग्रामीण सामजिक संरचना मे किसान को परिवार से लेकर पंचायत तक का सफर तय करना पड़ता है, उस सफर में उसका संघर्ष किस तरह का है? इस तथ्य की पड़ताल इस अध्याय में की गई है।

चौथे अध्याय '**समावेशी विकास की राजनीति और अन्य सामाजिक समूह**' में समावेशी विकास की राजनीति के जरिये उन प्रभावों का आकलन किया गया है जिसमें समाज के विभिन्न सामाजिक समूह प्रभावित हो रहे है। समावेशी विकास की नीति के तहत अलग-अलग सामाजिक समूहों को लाभान्वित करने के लिए सरकार द्वारा कई प्रकार की योजनाए चलाई गई, लेकिन इनका प्रभाव बाजार के प्रभाव के आगे बेअसर रह। बाज़ार ने उन नीतियों को खोखला साबित कर दिया, उदहरणस्वरूप हम 'नरेगा' जैसी लोकप्रिय सरकारी नीतियों को देख सकते हैं जो समाज के एक खास समूह के लिए बनाई गयी थी, लेकिन उसकी असफल परिणति ने इन नीतियों के संबंध में दुबारा सोचने के लिए मजबूर कर दिया है।

किसानों की राजनीतिक चेतना को एक रूप देने मे सभी राजनीतिक पार्टियाँ असफल रही, इसका बड़ा कारण भूमिसुधार का लागू न होना है। क्योंकि आर्थिक और सामाजिक संरचना मे अभी भी किसान-समूह के भीतर सामंती रिश्ते विद्यमान हैं, जिसके कारण सभी किसान समूहों को एक साथ आंदोलन खड़ा करने मे कठिनाई होती रही है। 1990 के बाद मध्यम वर्ग के किसानों का राजनीतिक सशक्तिकरण होने के

बावजूद उनके ऊपर नव-उदारवादी नीतियों का प्रभाव पडा, जिसकी वजह से वे गाँव से शहर की तरफ पलायन करने लगे। इस पलायन की प्रकृति पुरुष झुकाव वाली रही है, जिसके कारण कृषि मे महिलाओ का सीधा प्रभाव दिखाई दे रहा है। किसान के रूप मे स्त्री को एक समूह के रूप मे देखना, भारतीय सामाजिक परिस्थितियो के अनुसार भिन्न-भिन्न है। जैस- दलित और आदिवासी महिलाएं कृषि मजदूरी का काम करती हैं जिन्हें पुरुष मजदूर की तुलना मे कम मजदूरी दी जाती है, जिसको लेकर कोई राजनीतिक आंदोलन किया नहीं किया जाता है। मनरेगा (जहा महिला पुरुष दोनों के लिए समान मजदूरी है) के लागू होने से कृषि मजदूरों की मजदूरी बढी तो जरूर, लेकिन महिलाओ और पुरुषो के मजदूरी मे अभी भी बड़ी खाई मौजूद है।

पांचवां अध्याय '**समावेशी विकास की राजनीति और कथा संरचना तथा भाषा का राजनीतिक संदर्भ**' है। विकास के प्रश्न को प्रायः अर्थशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने का प्रचलन रहा है। हिंदी कथा साहित्य में विकास के प्रतीकों को भाषिक दृष्टि से देखने की कोशिश की गई है। 21वीं सदी के प्रारम्भ में विकास शब्द जैसे-जैसे राजनीतिक बहसों का केंद्रीय प्रश्न बनने लगा, वैसे ही साहित्य भी अपनी भाषा तथा संरचना में विकास के सवाल को समझने की कोशिश करता है। शोध प्रस्ताव के इस अध्याय में समावेशी विकास को आधार बनाकर जिन उपन्यासों एव कहानियों की रचना हुई है, उसकी संरचना तथा भाषा के राजनीतिक संदर्भ को समझने की कोशिश समावेशी विकास के आलोक में किया गया है। समावेशी विकास के मॉडल के लाभ-हानि की जो कहानी है उस कहानी को रचनाकारों ने किस ढंग से संरचना के स्तर पर सामने लाया है, उसका विश्लेषण इस अध्याय का महत्त्वपूर्ण कार्य है। समावेशी विकास का सवाल केवल अकादमिक, सामाजिक संगठनो या राजनीतिक संगठनो से जुड़ा हुआ सवाल नहीं है बल्कि भारतीय लोकतंत्र में यह किसान समुदाय जैसे उस तबके से जुड़ा हुआ है जिसकी संख्या पूरी जनसँख्या में 56 फीसदी है। साहित्य अपनी रचनाओं में इस बड़े तबके की ही अभिव्यक्ति करता है परंतु समय के साथ उस अभिव्यक्ति में बदलाव भी होता है। आज जब विकास की गलत नीतियों की वजह से बाजार मनुष्य के जीवन मूल्यों पर हावी होता जा रहा है, तब साहित्य तथा कला जैसी मूल्यपरक वस्तुओं की भूमिका और बढ़ जाती है। इस भूमिका के निर्वाहन में साहित्य अपने समय एवं समाज को

गहराई से देखने की कोशिश करता है और पाता है कि वहां न जीवन का यथार्थ एकरैखिक है न ही उसकी संरचना। यहाँ यथार्थ के भीतर भी बहुत सारे यथार्थ गुम्फित हैं जिसको शिल्प की दृष्टि से सफलता पूर्वक देखने की कोशिश हलफनामा (राजू शर्मा), कालीचाट (सुनील चतुर्वेदी), आखिरी छलांग (शिवमूर्ति) जैसी रचनाओं में हुई है। इन रचनाओ की भाषा एवं कहानी कहने की कला को देखते हुए स्पष्ट नज़र आता है कि यह भाषा वही भाषा नहीं है जो किसान समस्याओ के वर्णन के समय प्रेमचंद, रेणु, नागार्जुन या जगदीशचन्द्र माथुर की रचनाओ में देखने को मिलती है। इन रचनाओं की भाषा नए यथार्थ को पकड़ने की भाषा है। इस तरह की भाषा का राजनीतिक सन्दर्भ भी है जो विभिन्न आंदोलनों के सफ़र के साथ निर्मित हुआ है और यह निर्मिति इन रचनाओं में वस्तु एवं कला दोनों स्तरों पर देखने को मिलती है।

When politics decides your future, decide what your politics should be? यह एक प्रश्न हैं और शायद जेनयू न आता तो इस प्रश्न को समझने-जानने में जीवन के 10-15 वर्ष और लगते या फिर जीवन की कारगुजारी में कभी समझ भी न पाता। ज्ञान की समृद्ध और उत्कृष्ट परम्परा के केंद्र जेएनयू में आप आयें और यहाँ से कुछ प्राप्त किये बगैर चलें जाएँ यह संभव नहीं हैं। वैसे हरेक विश्वविद्यालय की अपनी कमियां-खूबियाँ होती हैं और वह जेएनयू की भी है। जेएनयू ने हमेशा यह समझाया कि कमियों को पहले सामने लाओ खूबियां खुद-ब-खुद अपना रास्ता ढूंढ लेंगी। जेएनयू, जहां राजनीति एक संस्कृति है और जीवन एक समझ। दिल्ली विश्वविद्यालय के पीजीडीएवी(सांध्य) से हिन्दू कॉलेज और हिन्दू कॉलेज से लेकर जेएनयू तक पठन-पाठन के सफ़र ने बहुत कुछ सोचने-समझने का अवसर प्रदान किया। हिन्दू कॉलेज की अकादमिक गतिविधियों ने साहित्य के प्रति जिस रूचि को निर्मित और परिष्कृत किया वह जेएनयू में आकर सुदृढ़ एवं वैचारिक हुआ। आज जब सब कुछ को एक नजर से देखने की कोशिश की जा रही है, तब जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति 'नो पॉलिटिक्स' के दौर में भी दीवारों पर लगे पोस्टर, खाने के टेबल पर पढ़े जाने वाले पर्चों, विमर्शों, विवाद-संवाद के माध्यम से छात्र राजनीति के लिए एक सकारात्मक 'स्पेस' को निर्मित करते हुए वैचारिक साहस प्रदान करती है। राजनीति की मुखर विरोध-प्रतिरोध के बीच जेएनयू

की सबसे बड़ी खासियत यहाँ का 'अंतर अनुशासनात्मक संवाद' है, जिसने यह सिखाया कि इतिहास, राजनीति और समाज का काम केवल नायक या खलनायक बनाने का नहीं होता है बल्कि सम्पूर्ण तथ्य को सामने लाने का होता है, जिसकी ऐतिहासिक चेतना में पक्ष-विपक्ष दोनों की उपस्थिति हो। किसान हमारे समाज का एक ऐसा ही रूपक है जिसके पास साधारण-असाधारण के नायकत्व के साथ आत्महंता हो जाने तक का सफ़र मौजूद है।

भारतीय भाषा केंद्र, भाषा स्कूल, साहित्य और सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से हिंदी में अपना शोध कार्य करते हुए पिछले 7 वर्षों के अनुभव-अध्ययन का पहला पड़ाव जहाँ एम् फिल था, वहीँ पीएचडी का शोधकार्य एक परिणति के रूप में हैं। जेएनयू में मिले शैक्षिक अनुभव ने मुझे देश और दुनिया के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं के बारे में अच्छी समझ प्रदान की है। हिंदी साहित्य और किसान-समस्याओं पर सम्बन्धित शोधकार्य करने हेतु जेएनयू ने मुझे वह उचित शैक्षणिक वातावरण प्रदान किया जिसके फलस्वरूप मैं इस शोध कार्य के सन्दर्भ में मैं अपनी समझ को निर्मित कर पाया। यद्यपि नवउदारवादी युग में किसानों की दुर्दशा और हिंदी कथाओं में वैश्वीकरण की नीतियों का अध्ययन करना मेरी रूचि का विषय है जो इस शोधकार्य के लिए मेरे लिए अतिरिक्त सहयोगी रहा। किसानों की दुर्दशा के संबंध में विवादों की प्रकृति और कृषि की वास्तविकता के बारे में समग्र समझ के साथ, मैंने विषय से संबंधित कथा साहित्य को पढ़ा। साथ ही इस विषय के सन्दर्भ में अच्छी तरह से जानकारी प्राप्त करने में अपेक्षित सहयोग अविनाश, शशि, अभिषेक, अंकित और रूपक का रहा जिनके प्रति विशेष आभार।

शोध प्रबंध जिस रूप में आपके सामने मौजूद है वह अब तक जीवन में मिले हुए हर छोटी-बड़ी सीखों का एक पड़ाव है। शोध कार्य अपने अंतिम रूप में नहीं पहुँच पाता अगर घर के सभी सदस्यों, दोस्तों और शुभचिंतकों की मदद नहीं मिली होती। शोध निर्देशक प्रो॰ देवेन्द्र चौबे का सुझाव, डांट और उत्साहवर्धन एवं शोध कार्य के प्रति उनका विश्वास निरंतर बना रहा, जो शोध के लिए सबसे ज्यादा ज़रूरी और महत्वपूर्ण था। भारतीय भाषा केंद्र के रावत जी और रमेश दोनों लोगों को विशेष धन्यवाद जिनका

विभागीय सहयोग हमेशा की तरह बना रहा जिसका लाभ पिछले सात वर्षों से निरंतर मिलता रहा। बी. आर. अम्बेडकर केन्द्रीय पुस्तकालय के कर्मचारियों का विशेष धन्यवाद जिनके सहयोग से जेएनयू का यह पुस्तकालय एक श्रेष्ठ पुस्तकालय के रूप में मौजूद है, जिसका लाभ पिछले सात वर्षों से निरंतर मिलता रहा हैं। गणपत दा, बृजेश जी, आदित्य भैया, निलेश भैया, रवि भैया का सहयोग अपेक्षित रहा, जो मिला और विषय के सम्बन्ध में ज्ञानवर्धन करता रहा। आशु सर, वंशीधर, सुशिल यति, मंगलम, बालाजी, कामरेड ओम और कामरेड विष्णु को विशेष तौर पर धन्यवाद जिनके बगैर यह शोध कार्य पूरा तो हो जाता लेकिन कुछ कमी अवश्य रह जाती। संदीप शिवम्, आशुतोष, अनंत, राय साब, नवनीत, किशन, शैलेंद्र, रवि रंजन, वियोग, अनूप, विकास, प्रकाश जैसे दोस्त होने के भी अपने फायदे-नुकसान हैं, जिसका एहसास शोध कार्य के दौरान बखूबी हुआ। कहानीकार 'अरुण कुमार असफल', आलोचक सियाराम शर्मा जी को विशेष आभार जिन्होंने शोध से जुडी जरुरी सामग्री को बगैर किसी लाग-लपेट के भेजा। जलीस दा और मक्कू दा का भी धन्यवाद जिन्होंने एमफिल से पीएचडी तक पोस्टर, पर्चा और अध्ययन सामग्री के छपने, फोटोकॉपी के जिम्मेदारियों से मुक्त रखा। तपस दा का कहा-अनकहा लेक्चर जो अर्थशास्त्र और देश के वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक हालातों को लेकर होते थे, उससे भी शोध की समझ के सन्दर्भ में मदद की एक बड़ी गुंजाइश बनी। संगठन की अध्यक्ष कॉमरेड सुचेता डे, महासचिव कॉमरेड संदीप सौरव एवं संगठन 'आइसा' के प्रति आभार-साभार सब कुछ, जिसने इतना समय दिया कि इस शोध कार्य को पूरा किया जा सके और बाकि जो बच गए उन सबके लिए प्रिय कवि पाश के शब्दों में-

"मेरे पास बहुत शुक्राना है
मैं शुक्रिया करना चाहता हूँ"!!

हम नही रखना चाहते
एक या दो मिनट का मौन
किसान आत्महत्याओं के लिए
जो कहीं कर्ज़ के बोझ तले झूल गए
कहीं इज्जत के लिए मिट्टी में गड़ गए
अन्न के अभाव में ठठरियों में बदल गए
ऐसी मौतों के लिए हम नही रखना चाहते
एक या दो मिनट का मौन
हम कोई शांति नही चाहते मुर्दाघर की
हम चाहते है जीवन का कोलाहल
हम चाहते है देखना आसमान की दूध-धारा को
जो किसान के दानों में उत्तर आती है सुबह-सुबह
हम किसान है और
हम सचमुच का सब चाहते हैं
जैसे आप धान-गेहूं, दाल-रोटी चाहते हैं
वैसे ही हम भी चाहते है साबुत
जीवन भी संगीत भी राग भी देश भी
और हां लोकतंत्र भी!!.

प्रथम अध्याय

समावेशी विकास की राजनीति और भारतीय किसान

1.1 भारतीय कृषि पर विश्व व्यापर संगठन का प्रभाव

1.2 विकास की राजनीति और किसान

1.3 भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में किसान

समावेशी विकास की राजनीति और भारतीय किसान

सामान्य अर्थो में समावेशी विकास का तात्पर्य समाज के सभी समुदायों या वर्गों के विकास से है जो आर्थिक उदारीकरण के बाद उच्च संवृध्दि के लाभ से वंचित रह गए है। समावेशी विकास अर्थात गरीबी निवारण के साथ संवृध्दि (Growth with Poverty Reduction) या न्याय के साथ संवृध्दि (Growth with Justice) या समानता के साथ संवृध्दि (Growth with Equality)। योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष (2004-2014) मोंटेक सिंह अहलुवालिया के अनुसार समावेशी विकास एक यामी दृष्टिकोण (uni-dimensional aspect) है। "जबकि समावेशीकरण एक ऐसी संवृध्दि है जो बहुत बड़ी संख्या में समाज के वंचित तबके के लोगों की समस्या को सुलझाये। (Inclusiveness is a kind of Growth which addresses very large number of different concerns)"[1] । वर्ल्ड इकोनोमिक फोरम के अनुसार समावेशी संवृध्दि को एक रणनीति के रूप में सोचा जा सकता है, जिसमें अर्थव्यवस्था के अग्रिम श्रेणी के प्रदर्शन को समाज के अंतिम श्रेणी के परिणाम के रूप में परिवर्तित किया जा सके[2]; और UNDP (United Nations Development Programme) के अनुसार विकास को समावेशी तभी बनाया जा सकता है जब सभी समुदाय के लोगों के लिए अवसरों का सृजन, विकास के लाभ को साझा करने तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल हों।[3] अर्थात समावेशी विकास के अंतर्गत समाज के सभी समुदायों को साथ लेकर विकास करने को शामिल किया गया है। वर्ग विभाजित समाज में समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलने की परिभाषा अपने आप में विरोधाभासी लगती है, क्योंकि समाज के अन्दर अलग-अलग वर्गों के अलग-अलग हित होते हैं, जो एक दूसरे के साथ टकराते रहते हैं। भारत में अगर समावेशी विकास की बात करे तो इस शब्द को आर्थिक उदारीकरण के बाद लोकप्रिय तरीके से प्रचारित किया गया। क्योंकि जब एक तरफ बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में व्यापर करने के नियम को उदार बनाया जा रहा है तथा वैश्विक स्तर पर कृषि को 'विश्व व्यापार संगठन' के अंतर्गत लाया जा रहा है, तब दूसरी ओर समावेशी विकास की बात भी की जा रही है। भारत के किसानों की आर्थिक और सामाजिक समस्या एक जैसी नहीं है, इसलिए जब सभी किसान के सन्दर्भ में समावेशी विकास की बात की जाए तब भारतीय किसानों की स्थिति का परिचय आवश्यक हो जाता है।

भारत में 11 प्रतिशत किसान भूमिहीन हैं और 75 प्रतिशत सीमांत और लघु किसान हैं जिनके पास सिर्फ 35 प्रतिशत जमीन है जबकि बड़े जोतदारो की संख्या सिर्फ 2 प्रतिशत है लेकिन उनके पास कुल खेतिहर जमीन का 26 प्रतिशत हिस्सा है।

औपनिवेशिक शोषण (pillage) के बाद, तत्कालीन सत्ताधारी पार्टी ने भारत को समाजवादी देश बनाने के लिए नियोजित (planned) तरीके से आर्थिक नीतियों को बनाने का काम शुरु किया था, जिसका तात्पर्य उस समय की आर्थिक संरचना से था और जिसको पुनर्संगठित (restructuring) करके भारत को सभी क्षेत्रों (sectors) विशेष तौर पर कृषि और उद्योग में आत्मनिर्भर (self dependant) राष्ट्र बनाना था। किसी भी सत्ताधारी राजनीतिक पार्टी का कार्यक्रम (programe) उसके द्वारा बनाई गई अधिकारिक नीतियों से होता है। भारत में कृषि की संरचना सामंती व्यस्था पर आधारित थी जिसके लिए सबसे पहले जरूरी था भूमि सुधार (land reform) का होना, जिसका नारा आज़ादी के समय जोर-शोर से दिया गया था और भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू जो खुद अपने को समाजवादी बताते थे, भूमि सुधार के हिमायती थे। भारत में भूमि सुधार के प्रमुख तीन उद्देयेश निर्धारित किये गए थे, जैसे Abolition of Intermediaries, Reforms of tenancy and Ceiling of land holding. कृषि सम्बंधित उद्देश्य को आठवीं पंचवर्षीय योजना में भी शामिल किया गया। "आठवी पंचवर्षीय योजना में भूमि सुधार का उद्देश्य राष्ट्रीय भूमि सुधार नीति के पांच-सिद्धांतो अर्थात बिचौलियों को समाप्त करना, वास्तविक किसानों को सुरक्षा सहित कष्टकारी सुधार, अधिशेष भूमि का पुनर्वितरण, भूमि चकबंदी तथा भूमि रिकार्डों का अद्यतनिकरण की पूर्ति होनी चाहिए"[4], लेकिन भारत में भूमि सुधार को लागू नहीं किया गया। बल्कि सीमांत और छोटे किसानों को विकास की मुख्यधारा में लाने के लिए उनकी जमीन राष्ट्र के निर्माण के लिए हड़प ली गयी, जिसको लोकप्रिय भाषा में कहें तो किसानों को भी समावेशी विकास के दायरे में लाना था। 1990 के बाद भारत में नई आर्थिक नीति को अपनाया जाता है। नई आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य अर्थव्यवस्था को "उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण" के नए आर्थिक माडल को अपनाना था। 1990 के बाद भारत में निजीकरण की प्रक्रिया और तेजी से बढ़ने लगी और इसने

अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रो को अपने अन्दर समाहित कर लिया। मार्क्स ने 'पूंजी' (Capital) में लिखा है कि,

"पूंजीवादी कहाँ से आयें? क्योंकि कृषक आबादी की बेदखली सीधे तौर पर कुछ और नहीं बल्कि बड़े से बड़े भू-स्वामियों का सृजन करती है. हालाँकि, जहाँ तक किसान की उत्पत्ति का प्रश्न है, कहने को तो इसका जवाब सुझाया जा सकता है, क्योंकि यह सदियों में विकसित हुई एक धीमी प्रक्रिया है. कृषिदासों (serf) के साथ-साथ स्वतंत्र छोटे भू-स्वामियों के पास विभिन्न स्वामित्वों वाली ज़मीनें थी और इसीलिए उन्हें बहुत ही अलग-अलग आर्थिक परिस्थितियों के बीच मुक्त कराया गया. इंग्लैंड में, किसान का पहला रूप कारिदा (bailiff) है , जो स्वयं एक कृषिदास है. उसकी स्थिति पुराने रोम के *villicus* जैसी है, लेकिन केवल कार्य-क्षेत्र के एक सीमित दायरे के भीतर. 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसे एक किसान द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाता है, जिसको भू-स्वामी द्वारा बीज, मवेशी और उपकरण उपलब्ध कराया जाता था. उसकी परिस्थिति कृषक (peasant) से बहुत ज्यादा भिन्न नहीं है. केवल वह ज्यादा दिहाड़ी मजदूरों का शोषण करता है. जल्द ही वह एक मेटाएर (metayer), एक अर्ध-किसान बन जाता है. कृषि-पूँजी के एक हिस्से की पेशगी वह करता है और दूसरे की भू-स्वामी. दोनों अनुबंध द्वारा निर्धारित अनुपात में कुल उत्पाद को बाँट लेते हैं. इंग्लैंड में यह रूप, एक ऐसे किसान (farmer proper) को स्थान देने के लिए तेजी से लुप्त हो जाता है, जो दिहाड़ी मजदूरों से काम करा कर अपनी स्वयं की पूँजी बढ़ता है और अधिशेष उत्पाद (surplus-product) का एक भाग मुद्रा-रूप अथवा वस्तु-रूप में भू-मालिक को किराये के तौर पर देता है. फिर, 15वीं शताब्दी के दौरान, जहाँ दिहाड़ी के साथ-साथ स्वयं के लिए भी काम करने वाले स्वतंत्र किसान और खेत-मजदूरों ने स्वयं अपने श्रम से खुद को समृद्ध किया, किसान की परिस्थिति और उसके उत्पादन का क्षेत्र समान रूप से औसत ही थे. कृषि क्रांति जो 15वीं शताब्दी के अंतिम भाग (last third) में शुरू हुई और पूरे 16वीं शताब्दी के दौरान (हालांकि, अंतिम दशक के अपवाद को छोड़कर) जारी रही, इसने उसे उतनी ही जल्द समृद्ध किया जितनी जल्दी इसने कृषक समुदाय को दरिद्र बना दिया.[5]

लेकिन भारत में इंग्लॅण्ड की तरह अर्थव्यवस्था में पूंजीपतियों की उत्पत्ति नहीं हुई उसका कारण भारत में लम्बे समय तक इंगलैंड का उपनिवेशीकरण रहा, लेकिन कृषि के क्षेत्र में पूंजी का संचय कमोबेश इंग्लॅण्ड या बाकी पूंजीवादी देशों की तरह ही हो रहा था, क्योंकि मानव का पहला व्यापर सम्बन्धी क्रय-विक्रय कृषि से सम्बंधित वस्तुओं से

हुआ था। भारत में अंग्रेजो के आने के बाद व्यवस्थित रूप से कृषि भूमि का निजी संपत्ति के तौर पर विभाजन किया गया, जिससे लगान(Rent) को वसूलने में आसानी हो सके। जिसको लेकर प्रभात पटनायक ने लिखा,

"ब्रिटिशों के अधीन स्थापित क़ानून और व्यवस्था द्वारा जमीन में निजी संपत्ति को औपचारिक रूप से मान्यता मिलने से मध्यस्थों के एक समूह का सृजन हुआ, जो किसानों और सरकार के बीच की कड़ी बन गये. इन मध्यस्थों ने जो कि वफ़ादार अनुचरों का एक समूह था, ब्रिटिशों के लिए अति-आवश्यक सुरक्षा और कर भी मुहैया कराया. ब्रिटिश शासन् के अधीन निजी भू-संपत्ति का एक औपचारिक मान्यता प्राप्त कानूनी संस्था के तौर पर विकास ने भूमि-संबंधों की एक अत्याधिक अन्यायपूर्ण प्रणाली को स्थान दिया. ब्रिटिश प्रणाली के अंतर्गत भू-कर मुख्य उद्देश्य होने के कारण, और दोनों के एक सहजीवी-सम्बन्ध (symbiotic relationship) में शामिल होने से, इसको अधिकतम रखने के लिए सामंतवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करने की जरुरत थी. इस प्रकार, ब्रिटिश प्रणाली ग्रामीण इलाकों में सामन्ती और अर्ध-सामंती सम्बन्धों के साथ संगत थी और सह-अस्तित्व में थीं. जोतों की संरचना को सुधारने के कोई गंभीर प्रयास नहीं हुए. यहाँ तक कि जब बाजार और विनिमय की बढ़ोत्तरी ने व्यावसायीकरण और बाजारों के लिए वस्तु उतादन (commodity production) को बढ़ावा दिया तब भी सामंती सामाजिक संबंधों के ऊपर पूंजीवादी उत्पादन संबंध को आरोपित करने की मांग थी."[6]

भूमि का निजी संपत्ति के रूप में हो जाने से कृषि का पूरा का पूरा स्वरूप ही बदल गया। एक तरफ सामंती व्यवस्था को मजबूत किया गया था तो दूसरी तरफ पूंजीवादी तरीके से कृषि कार्य का उत्पादन चालू हो गया और भारत में कृषि क्षेत्र में ईस्ट इण्डिया कंपनी ने अपना कार्य चालू कर दिया था और भारत में कृषि एक उद्योग के रूप देखा जाने लगा था। आधुनिक खेती एक पूंजीवादी उद्दम है और पूंजीवाद उत्पादन पद्धति की अभिलक्षणिक विशेषता का वहन करता है, लेकिन अपने आप में आधुनिक कृषि दो मूलभूत लक्षण प्रदर्शित करता है: भूमि में निजी संपत्ति, और कृषि उत्पादों का वस्तु-चरित्र (commodity- character)।

भारत में कृषि उद्योग एक मुनाफे के उद्योग के रूप में "हरित क्रांति" के बाद तेजी से उभरा। हरित क्रांति का प्रभाव विशेषकर उत्तर भारत में रहा, जहाँ जोतों का आकार

सामान्य से ज्यादा था और वहाँ आधुनिक मशीनों का उपयोग किया जा सकता था। हरित क्रांति की सफलता विदेश से आयातित कृषि संबंधित आगतो (input) पर थी जिसके नियंत्रण पर बड़ी-बड़ी मल्टीनेशनल कंपनियों का कब्ज़ा था। हरित क्रांति को एक राजनीतिक नारे के रूप में प्रचारित किया गया जिसने पारंपरिक ग्रामीण शक्ति संरचना (traditional rural power structure) को बदले बिना ही कृषि में वृद्धि को हरित क्रांति के क्षेत्र में ला दिया। बड़े किसान 'New Agricultural Strategy' अपनाना चाहते थे जिससे कृषि को पूंजीवादी तरीके से उत्पादन किया जा सके। 'New Agricultural Strategy' या 'Borlough Seed-Fertiliser Technology' जिसमें आधुनिक तकनीक, खाद, मशीन तथा गेहूँ और चावल के High Yielding Variety (HYV) बीज को शामिल किया गया था और सिंचाई की पर्याप्त उपलब्धता और सस्ते ब्याज दर पर उधार के कारण जो कृषि के क्षेत्र में उपलब्धता हासिल हुई उसे "हरित क्रांति" के नाम से जाना जाता है।

किसानों ने अपने उत्पादन को बढ़ाने के लिए बड़ी मात्रा में मशीनों का प्रयोग करना शुरू कर दिया जिससे कृषि की लागत बढती गयी और कृषि उत्पाद में मंहगाई आ गई, जिससे कृषि मजदूरो की वास्तविक मजदूरी में कमी आती गई। किसान हर समय ज्यादा मुनाफा देने वाली फसलों पर ही जोर देने लगा जिससे सभी फसलों के उत्पादन में असंतुलन पैदा हो गया। उत्तर भारत में हरित क्रांति का प्रभाव मुख्यतः गेहू की फसल तक ही रहा जिससे तिलहन और दाल के उत्पादन में भारी कमी आई। हरित क्रांति ने अन्न उत्पादन में वृद्धि लाया। भारत में कुल खाद्यान उत्पादन जो 1950-51 में 50.8 मिलियन टन था वह 1964-65 में बढ़कर 89.90 मिलियन टन पहुँच गया था और हरित क्रांति के बाद 1970-71 में बढ़ कर 108.42 मिलियन टन हो गया जिससे PL 480 समझौते को हटाया जा सका।[7] वहीं दूसरी ओर अंधाधुंध मशीनों और कीटनाशक दवाओ के प्रयोग से कृषि भूमि की उत्पादन क्षमता में भारी कमी आई तथा हरित क्रांति के प्रभावस्वरूप भारत में कृषि क्षेत्र में बाज़ार-उन्मुख पूंजीवादी कृषि उत्पादन चालू हुआ जिसने ग्रामीण संरचना को बदल दिया जिसमें व्यापारिक कृषि वस्तुओं का उत्पादन था, मुद्रा वस्तुओं (Money Commodity) का उत्पादन चालू हुआ

जिसने उत्पादन सम्बन्ध को बदल दिया। इस उत्पादन सम्बन्ध के सन्दर्भ में लेनिन ने लिखा है कि-

"दिहाड़ी मजदूरों को रोजगार और अधिशेष मूल्य का निष्कर्षण, पूंजीवादी कृषि की मुख्य अभिव्यक्ति बन गए, जिनका साथ सामान्य वस्तुकरण (commoditization) और विस्तारित उत्पादन के लिए अधिशेष के पुनर्निवेश ने बकायदा निभाया."[8]

पूंजीवादी कृषि उत्पादन ने कृषि आगतो के लगातार बढ़ने से किसानों को क़र्ज़ में ढकेल दिया तथा आगतो की कुशलता में भी कमी आती गयी। उत्पादन को बढ़ाने के लिए असंतुलित तरीके से खाद का प्रयोग किया गया जिससे मिट्टी की उर्वरा शक्ति में कमी आई और पानी के कमजोर प्रबंधन की वजह से भू-जल उपलब्धता के स्तर में भी लगातार कमी आती गयी। हरित क्रांति ने बड़े किसानों को तो लाभ पहुचाया लेकिन छोटे किसानों को हाशिये पर पंहुचा दिया और इस तथ्य को हरित क्रांति की सफलता ने हरित क्रांति के प्रभाव में छुपा दिया था। राजनीतिक पार्टियों ने भी हरित क्रांति के नकारात्मक प्रभावों को राजनैतिक नारे नहीं बनने दिए जिसका परिणाम आज किसानों की आत्महत्या के रूप में देश के सामने है। महाराष्ट्र के विदर्भ में किसानों की आत्महत्या में तो देश के प्रधानमंत्री तक को उस क्षेत्र में दौरे करने को मजबूर कर दिया, लेकिन किसानों की आत्महत्या रुकने का नाम नहीं ले रही। विदर्भ का क्षेत्र कपास उत्पादन के लिए जाना जाता था, लेकिन कपास सम्बंधित आगतो के ऊपर बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय (Multinational) कंपनियों का कब्ज़ा है जिससे किसानों को सस्ते दाम पर बीज, खाद, पानी, तथा कीटनाशक दवाओं का मिलना कठिन हो गया और कपास का उत्पादन करने वाले किसान दिन-पर-दिन क़र्ज़ में फँसते चले गए और सच्चाई यही है की आज भी उनके फसलों का उचित दाम नहीं मिलता।

1.1 भारतीय कृषि पर विश्व व्यापर संगठन का प्रभाव

1995 में विश्व व्यापार संगठन के बनने से कृषि को व्यापर में शामिल किया गया और भारत को विश्व व्यापर संगठन का संस्थापक सदस्य होने के नाते कृषि सम्बंधित सभी प्रकार के करार को मानना पड़ता है। जिसमें किसानों को दी जाने वाली सरकारी

सहायता (Subsidy) को कम करना तथा कृषि संबंधित वस्तुओं के आयात कर (Import Duty) को ख़त्म करना आदि मांगों को प्रमुखता से लागू करने की हिदायत दी गई थी जिससे कृषि के क्षेत्र में प्रतियोगिता बढ़ सके। विश्व व्यापर संगठन के कृषि सम्बंधित प्रावधान निम्नलिखित है।।

बाज़ार उपलब्धता (Market Access)

बाज़ार उपलब्धता का तात्पर्य बाज़ार के लिए सभी प्रकार के अवरोधो को समाप्त करना है, चाहे वह सीमा शुल्क हो या गैर सीमा शुल्क स्थापित हो। जिससे व्यापार करने में आसानी हो सके तथा उत्पादक देश से उपभोक्ता देश तक वस्तुओं को आसानी से पहुँचाया जा सके। इसका निर्धारण करने के लिए अनेक विकासशील देश सीमा-शुल्क तय नहीं करते बल्कि सभी पिछले असीमांकित शुल्कों के विकल्प का प्रयोग करते हैं। सभी सीमांकित सीमा-शुल्कों को निर्धारित अधिसूचना के अनुसार घटाया जाना है। विकसित देशों के लिए कटौती स्तर 6 वर्षों की अवधि के लिए 36 प्रतिशत है। विकासशील देशों के के लिए यह स्तर 10 वर्षों के लिए 24 प्रतिशत है।

इसके अतिरिक्त, सीमा-शुल्क निर्धारित करने वाले देशों के लिए चालू तथा न्यूनतम पहुँच के अवसर बनाये रखना और 1986-88 की आधार अवधि में घरेलु उपभोग का कम से कम 3 प्रतिशत न्यूनतम सीमा-शुल्क कोटा (टीआरक्यू) स्थापित करना अनिवार्य है। इसे एक कार्यान्वित समयावधि में क्रमिक रूप से आधार अवधि उपभोग के 5 प्रतिशत तक बढ़ाया जाना है। कृषि संधि के विशेष अभय-पात्र के अंतर्गत, सीमा-शुल्क निर्धारित करने वाले 36 देशों को कृषक अभय-पात्र के उपयोग करने की अनुमति प्राप्त है।

घरेलु सहायता (Domestic Support)

उरुग्वे चक्र के डंकल प्रस्तावना में घरेलु अनुदान में कटौती से सम्बंधित महत्वपूर्ण प्रावधान बनाये गए थे। पहला, कुछ अनुदानों पर इस आधार पर छूट दी गई कि उत्पादन और व्यापार पर इनका नगण्य अथवा बहुत कम दुष्प्रभाव है। 'ग्रीन बॉक्स'

प्रयोगों में लाभ अनुसन्धान, विकास और प्रोत्साहन नीतियों को दिया गया जो सरकारी समर्थन में सम्मिलित है। 'ब्लू बॉक्स' प्रयासों से तात्पर्य है –द्विभाजित (अर्थात उत्पादन से असम्बद्ध) आय समर्थन और अथवा समावेशी सीमांकन कार्यक्रम।

सभी छूट रहित अनुदानों को दो भागों में विभक्त किया गया –उत्पाद विशिष्ट समर्थन, जहाँ उत्पाद-विशेष समर्थन का तात्पर्य विभिन्न फसलों के मूल्य तथा अन्य प्रत्यक्ष अनुदानों से है, वहीँ गैर-उत्पाद अनुदान उन लागतों पर अनुदान से सम्बद्ध है, जिनका किसी विशेष फसल से संबंध नहीं जोड़ा जा सकता है। उत्पाद तथा गैर-उत्पाद समर्थन को सम्मिलित रूप से 'कुल उत्पाद समर्थन' कहा जाता है। समर्थन के अभिकलन के लिए 1988-1989 को आधार वर्ष के रूप में लिया जाता है। संधि के अनुसार 'कुल उत्पाद समर्थन' को निर्धारित अनुसूची के आधार पर घटाया जाना था। विकसित देशों को 6 वर्षों में अपने 'कुल उत्पाद समर्थन' को 20 प्रतिशत कम करना है। विकासशील देशों को यह समर्थन 10 वर्षों के अंदर 13.3 प्रतिशत तक कम करना है।

निर्यात प्रतियोगिता (Export Competition)

निर्यात प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करने के लिए विश्व व्यापर संगठन (WTO) ने निर्यात के लिए दी जाने वाली किसानों को सहायता का प्रावधान किया है, जिससे अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता को बढ़ाया जा सके। इसके अंतर्गत परिवहन तथा वित्त अनुदान सहित सरकार द्वारा इसकी संस्थाओं को दिए जाने वाले सभी प्रकार के अनुदान जिससे निर्यात प्रोत्साहित होता है, उसको शामिल किया जाता है। निर्यात प्रोत्साहन के लिए दी जाने वाली सहायता को कटौती के वायदों के सम्बन्ध में विकसित देशों को 6 वर्षो की अवधि के अन्दर (1995-2000) निर्यात अनुदानों को 36 प्रतिशत तक कम करना था और विकासशील देशों के लिए 24 प्रतिशत तक निर्यात अनुदानों को कम करना था वो भी 10 वर्ष की अवधि में।

WTO के कृषि सम्बंधित प्रावधान के चलते सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायता और संरक्षण को क्रमबद्ध तरीके से हटा लिया गया जिससे विकासशील देशों के

किसान विकसित देशों और विकासशील देशों के किसान को प्रतियोगिता के एक ही स्तर पर ला दिया गया, जिसके कारण किसानों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है और विकासशील देश के किसानों की स्थिति दिन प्रतिदिन गिरती जा रही है और विकासशील देश के किसानों को आत्महत्या करने को मजबूर कर रही है। यह स्पष्ट है कि कृषि के भूमंडलीकरण ने किसानों को हाशिये पर ढकेल दिया है और कृषि के क्षेत्र में मुनाफे के लिए बड़ी-बड़ी कंपनियों के लिए रास्ता खोल दिया गया है। भारत के कपास के किसान दक्षिण-पूर्व के देशों के सामने उत्पादकता में बहुत पीछे है जिससे कपास उद्योद के खत्म होने की संभावना है और जिन भी फसलों के उत्पादन में भारत की उत्पादकता बाकी देशों की तुलना में कम है उन फसलों के ख़त्म होने की संभावना है। क्योंकि उत्पादकता में ज्यादा कुशल देश उन फसलों का निर्यात करेंगे और उनकी लागत भारत देश के मुकाबले कम होगी।

कृषि उत्पाद की तुलना: भारत बनाम दुनिया

फसल	**भारत में सर्वाधिक उत्पादन**	**दुनिया में सर्वाधिक उत्पादन**
धान	पंजाब (3952)	चीन(6661)
गेंहूं	पंजाब (5017)	यूनाइटेड किंगडम (7360)
मक्का	तमिलनाडु (5372)	यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका (8858)
चना	आन्ध्र प्रदेश (1439)	इथियोपिया (1663)
कपास	पंजाब (750)	ऑस्ट्रेलिया (1920)
राई/सरसों	गुजरात (1723)	यूनाइटेड किंगडम (3588)

स्रोत: आकड़ें वर्ष 2012 के हैं और उत्पादन किलोग्राम/हेक्टेयर में हैं.

सारणी में स्पष्ट रूप से यह दिखाया गया है कि भारत के किसानों की विश्व-कृषि के प्रतिस्पर्धा में कहीं भी प्रमुख फसलों में तुलनात्मक रूप से उत्पादकता ज्यादा नहीं है। जिसका परिणाम यह होगा की भारत के किसान पूरी तरह से बर्बाद हो जायेंगे। क्योंकि कम लागत की फसलें पहले से ही बाज़ार में उपलब्ध होगी तब ज्यादा लागत लगाकर उसी फसल की क्यों पैदा किया जाये, यह प्रश्न खड़ा होगा?

क्योंकि ज्यादा लागत आने से फसल का दाम ज्यादा होगा और आयातित फसल की तुलना में भी दाम ज्यादा होगा तब भारतीय फसलों का खरीददार नहीं मिलेगा। आधुनिक परिवहनों के कारण पूरी दुनिया में कृषि वस्तुओं का व्यापार करना आसान हो गया है चाहे वह अल्पावधि तक चलने वाली फसल ही क्यों न हो। विश्व व्यापर संगठन में करार के चलते भारत अपने किसानों को सहायता भी नहीं दे पा रहा है और न ही उनके निर्यात को प्रोत्साहन के लिए सहयोग कर पा रहा है, जिससे किसानों की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती चली जा रही है, जिससे किसानों को आत्महत्या या भुखमरी-बेकारी का सामना करना पड़ रहा है।

वैश्वीकरण ने फसल चक्र में भी परिवर्तन ला दिया है जिससे किसान कैश-क्रॉप की तरफ ध्यान दे रहे हैं, जो उन्हें तात्कालिक रूप से लाभ पहुँचा तो जरूर रहा है, लेकिन दीर्घकाल में वह जमीन की उर्वरा शक्ति कम कर किसान को ही नुकसान पहुँचायेगा। प्राकृतिक रूप से असंतुलन पैदा करके बहुत दिन तक फसल का उत्पादन नहीं किया जा सकता। इन सब के बावजूद भारत सरकार कृषि के वैश्वीकरण की तरफ किसानों की हिफाजत किये बिना ही करार कर बैठी। इन सब करार को जब उरुग्वे दौर में किया जा रहा था तब दिल्ली की सड़कों पर हजारों की संख्या में किसान मजदूर आ कर विरोध प्रदर्शन कर रहे थे और उन विरोध प्रदर्शनों के ऊपर पुलिस ने ज़बर्दस्त तरीके से दमन किया था। इस घटना के बाद किसानों की समस्या को वैश्विकपूंजी से जोड़ कर देखने की विश्व-दृष्टि को भी धीरे-धीरे अकादमिक और राजनीतिक जगत से बाहर कर दिया गया। अब अकादमिक और सार्वजनिक जगत में उत्तर-आधुनिक विचारों का प्रभाव बढ़ने से पूंजीवाद के विमर्श को ही गायब कर दिया है और किसानों की समस्या महज स्थानीय स्तर की समस्या तक ही सीमित हो कर रह गई है। जबकि वर्तमान समय में जरूरत है कि पूंजीवाद जो अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए तथा मौजूदा संकट से उबरने

के लिए नए क्षेत्रो को अपने गिरफ्त में लेता चला जा रहा है उसको पहचान करने की जरूरत है। किसानों के भीतर भी वैश्वीकरण एक वर्ग को पैदा करने में सफल रहा है। जिनके पास बडे फार्म थे उनको वैश्वीकरण का तुलनात्मक रूप से फायदा मिला लेकिन 80 प्रतिशत से ज्यादा किसानों की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती चली गयी। कृषि के वैश्वीकरण ने कृषि की पूरी संरचना को ही बदल दिया जिससे ग्रामीण परिवेश में नए तरह के सामाजिक सम्बन्ध विकसित हुए। पारम्परिक बीजों की जगह बड़ी-बड़ी कम्पनियों के संशोधित बीज को खेती में प्रयुक्त किया जाने लगा जिससे खेती की विविधता खतरे में पड़ गयी और पारम्परिक बीजों को बड़ी-बड़ी कंपनियों द्वारा पेटेंट करा लिया गया। भारत में प्रमुख बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में Maonsanto, Advanta India, Heinz India तथा Dupont India नामक प्रमुख अमेरिकन कंपनियों का भारत में कृषि के क्षेत्र में व्यापार पर कब्ज़ा करती चली गई। जिनमें किसी ने बीजों पर अपना एकाधिकार तो किसी कम्पनी ने रासायनिक पदार्थो पर एकाधिकार स्थापित कर लिया है। भारत में ये सभी बहुराष्ट्रीय कंपनियां भारत के कृषि आगतों पर निर्भरता को ख़त्म कर दे रही है और भारत में कृषि की आगत बड़ी कंपनियों के मुनाफे के वस्तु बन कर रह गये है। बीजों की विविधता ख़त्म होने का विवाद तब सामने आया जब जेनेटिकली मॉडिफाइड बीज को भारत में प्रयोग के लिए लाया गया तब भारत में इसका विरोध भी हुआ और सर्वजनिक बहसों का भी प्रमुख मुद्दा बना। भारत में 2002 में पहली बार कपास के GM बीज अनुमोदित किया गया जिस पर Monsanto कम्पनी का एकाधिकार है। भारत में उसकी तकनीकी सहयोगी कम्पनी महारष्ट्र हाई ब्रीड सीड्स क. लिमिटेड (Maharashtra Hybrid Seeds Co Ltd, Mahyco) है, जिसके माध्यम से Monsanto कपास के बीजों का विक्रय करती है और 2015 में उसने 41 मिलियन रुपये के बीज को भारत में बेचें। GM बीज ने भारत के परंपरागत बीजों को ख़त्म कर दिया था और किसानों को पूर्ण रूप से कम्पनी पर निर्भर बना दिया जिसके कारण कपास के किसानों को क़र्ज़ न चुका पाने के कारण आत्महत्या करनी पड़ रही है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (National Crime Record Bureau, NCRB) के आंकड़ों के आधार पर किसानों की आत्महत्या में सबसे अग्रणी राज्य महाराष्ट्र है। जिसमें अधिकतर कैश-क्रॉप (कपास, सोयाबीन और संतरा) की खेती करने वाले किसान आत्महत्या कर रहे है। सर्वेक्षण में यह सामने आया कि किसान बहुत कम खोने पर भी आत्महत्या कर रहे हैं।

कुछ आत्महत्या करने वाले किसानों के ऊपर सिर्फ 10000 रुपये तक ही क़र्ज़ था फिर भी किसान आत्महत्या को मजबूर हो रहे हैं। महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र के 6 जिलों में 2012 से 2015 तक आत्महत्या करने वालों की संख्या 3145 तक पहुँच गयी थी। आत्महत्या करने वाले किसानों में कई किसान 30 साल से कम उम्र के थे, तो चार में से एक किसान 18 से 30 की उम्र तक के थे और 35 प्रतिशत किसान 30 से 45 के बीच की उम्र के थे। जो इस बात को भी दिखाता है की सरकार की तरफ से दिखाई जाने वाली तटस्थता के चलते किसानों ने आत्महत्या की है। वर्ष 2014 में पूरे देश में 5,650 किसानों ने आत्महत्या की जिसमें सर्वाधिक महाराष्ट्र के किसान थे। पंजाब के दो सबसे ज्यादा आत्महत्या प्रभावित जिलो में से भटिंडा और संगरूर है जहाँ के किसान कपास और धान की खेती करते है। कपास और धान की कीमत में आई अंतर्राष्ट्रीय गिरावट के चलते किसानों को मुनाफा नहीं हुआ और किसान क़र्ज़ में डूबते चले गये। जिसके कारण किसानों को आत्महत्या के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। कर्ज़ लेने वाले किसानों में ज्यादातर किसान गैर-संस्थागत तरीके से क़र्ज़ लिए थे जिसका ब्याज दर काफी ऊँचा होता है, क़र्ज़ की बढ़ोतरी के कारण किसान क़र्ज़ जमा कर पाने में असमर्थ होता है और अंत में उसे आत्महत्या के लिए मजबूर होना पड़ता है। भारतीय किसान यूनियन के आंकड़ों के आधार पर 1990-2008 के बीच में पूरे पंजाब में 30,000 किसानों ने आत्महत्या की जबकि पुलिस ने सिर्फ 136 की ही रिपोर्ट दर्ज की।[10] जो इस बात को दिखलाता है की सरकारी और गैर-सरकारी आंकड़ों में कितना अंतर है। कृषि के उदारीकरण तथा वैश्वीकरण ने कृषको की स्थिति को अनिश्चित बना दिया है। दूसरी तरफ सरकार ने भी किसानों को दी जाने वाली सहायता को महज बीमा प्रोग्रामों तक सीमित कर दिया है। किसानों की फसलों का बीमा तो जरूर कराया जाता है, लेकिन फसल ख़राब होने के बाद उनके मुवावजे किसानों तक नहीं पहुँचते और न ही उनके द्वारा लिए गये कर्जों को माफ़ किया जाता है।

आर्थिक उदारीकरण के बाद भारत में कृषि-वृद्धि दर उदारीकरण के पहले की तुलना में कम रही है। अखिल भारतीय स्तर पर उदारीकरण के पहले (1980-83 से 1990-93) उत्पादन में वृद्धि दर 3.37 की तुलना में उदारीकरण के बाद की अवधि

(1990-93 से 2000-03) में 1.74 प्रतिशत रही थी जो इस बात की ओर इशारा करता है कि आर्थिक उदारीकरण ने कृषि के विकास में महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं की। क्षेत्रीय स्तर पर सिर्फ गुजरात को छोड़कर सभी राज्यों में उत्पादन की वृद्धि दर में गिरावट आई। गुजरात में वृद्धि का प्रमुख कारण बीटी कपास की पैदावार थी जिसने गुजरात में उत्पादन की वृद्धि दर 5.30 रही। यह वृद्धि उदारीकरण के बाद रही जबकि उदारीकरण के पहले गुजरात में उत्पादन वृद्धि दर सिर्फ 0.90 रही थी। अखिल भारतीय स्तर पर उत्पादन वृद्धि में गिरावट का प्रमुख कारण ग्रामीण संरचना तथा सिंचाई के कुल निवेश में आई की कमी के कारण था।[11]

उत्पादन में बीज की प्राथमिक और केन्द्रीय भूमिका होती है। इस स्थिति को भांपते हुए बीज कंपनियां किसान क्षेत्र के बड़े हिस्से को अपने कब्ज़े में कर लेती है। इस प्रक्रिया में किसान का सबसे अधिक नुकसान रहा। किसान फसल का एक हिस्सा बीज के लिए बचा कर रखता था। लेकिन बाजार ने बीजों के उपलब्ध होने के पूरे दृश्य को बदल दिया है। इस सवाल को देखने पर बीज कम्पनियों की धोखाधड़ी सामने आती है 'किसान जब इन कंपनियों से बीज लेकर मनचाही फसल उगाता था तो उसे अपनी फसल के लिए स्वतः बीज उपलब्ध हो जाते थे। इस समस्या का समाधान बीज कम्पनियों ने अन्तर्जात संकर बीजों के विकास में ढूंढा जो संकर पौधे तो पैदा करते है पर संकर बीज पुनरुत्पादित नहीं करते।'[12]

हरित क्रांति के बाद किसान अपनी परम्परागत बीज-प्रणाली को छोड़ संकर बीजों की तरफ कदम बढाये। नरसिंह दयाल का कहना है कि 'संकर बीजों के प्रवेश ने सदियों से किसानों द्वारा विकसित स्थानीय बीजों का स्थान ले लिया। हरित क्रांति से हमारी समृद्ध अनुवांशिक धरोहर समाप्त हो गयी। इन विदेशी बीजों ने किसानों से उनके अपने बीजों के साथ अन्तर्सम्बंध को नष्ट कर दिया'।[13]

किसानी में बीजों के खेल को बहुत करीने के साथ साम्राज्यवादियों ने अपने हाथों में ले लिया। हरित क्रांति के बाद कुछेक राज्यों में हुए अधिक उत्पादन के बाद बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने किसानों की आँखों में उस बेहतर होने के स्वप्न को देखा जो वर्षों से चले आ रहे थे। उन स्वप्नों के आधार पर कम्पनियों ने उन बीजों का प्रचार-प्रसार किया जिनको

अधित उत्पादन के नाम पर बेचा जा रहा था। आज की तारीख में किसान पूरी तरह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा उत्पादित बीजों पर ही आश्रित हो गये हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर किसान की निर्भरता की स्थिति केवल बीज को लेकर नहीं है, बल्कि संकर बीजों के अनुसार खाद, कीटनाशक और खरपतवार नाशकों का पूरा एक पैकेज है जो उन्हें संकर बीज के नाप पर अपनाना पड़ रहा है। इन संकर बीज को किसान दुबारा फसल उगाने के लिए उपयोग में नहीं ला सकता है। इसके लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियां संकर बीजों के 'टर्मिनेटर', निरबंसिया या सीमित अंकुरण की क्षमता वाले जीन का प्रयोग कर देती हैं, जिससे होता यह है की किसान संकर बीज को उत्पादन के बाद दुबारा प्रयोग में नहीं ला सकते है। भारत में केवल संकर बीजों की उपलब्धता की वजह से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर किसान की निर्भरता बढती चली गई है। यही कारण है की बीजों का व्यापार आज पूरी तरह बहुरष्ट्रीय कम्पनियों के हाथों में जा चुका है, जबकि भारत में सात के दशक में 'नेशनल सीड कारपोरेशन' और 'स्टेट सीड कारपोरेशन' की स्थापना की गई थी। जिसका अनुसार बीज के विकास और वितरण की जिम्मेदारी राज्य की है, लेकिन किसान और खेती के प्रति अदुर्दर्शिता का नतीजा यह रहा कि 1970 के दशक में बीज व्यापार को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया गया, जो भारत के किसान के लिए आत्मघाती कदम साबित हुआ।

विकास की उदारवादी अवधारणा में बीजों का व्यापार आज पूरी तरह मोंसैंटों, कारगिल जैसी बड़ी कम्पनियों के कब्जे में है। सरकरी उदासीनता की स्थिति यह है कि वर्ष 1997 के बाद से किसान-आत्महत्या में सबसे ज्यादा वृद्धि दर्ज की गई है। '1998 में विश्व बैंक ने भारत को इस बात के लिए बाध्य किया था कि मोंसैंटों, कारगिल, साइजेंटा जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीजों को भारत में प्रवेश दिया जाये। इन कम्पनियों द्वारा उत्पादित बीजों ने परम्परागत रूप से बीजों पर किसानों के अधिकार और नियंत्रण को समाप्त कर दिया। ये बीज अत्यन्य महंगे है। आंध्रप्रदेश आज जितना अपने सॉफ्टवेयर निर्यात से आय अर्जित करता है, उससे ज्यादा आय देश में बीजों के व्यापार से होता है। इस बीज व्यापार पर पूरी तरह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। मोंसैंटो के बहुचर्चित कपास बीज किसानों की दुर्दशा के सबसे बड़े कारण सिद्ध हुए'[14]। दुर्भाग्य की बात है कि लोकतंत्र में जो सरकार जनता के हवाले से बनती है वह खुद इन

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सहायता करती नजर आती है। 'बीज विधेयक 2004 में इन बीज उत्पादक कम्पनियों को ऐसे किसी उत्तरदायित्व से बरी कर दिया गया है, जिसके अंतर्गत बीजों की विफलता की स्थिति में वे किसानों को मुआवाजा दे सके। अति उत्पादकता का दावा करने वाले इन बीजों ने किसानों के भविष्य को अनिश्चित बना दिया है'[15]

बिहार और झारखंड में धान नौ रुपए किलो बिकता है, जबकि बाजार का बीज 270-280 रुपए किलो। देशी बीज गोबर की खाद और अपेक्षाकृत कम पानी में भी फसल देते हैं, जबकि बाजार के बीजों के लिए रासायनिक खाद, भरपूर पानी और कीटनाशक जरूरी। परिणाम यह हुआ कि उपज तो बढ़ी, लेकिन बाजार पर निर्भरता भी बढ़ी। साथ हीं यह भी हुआ कि नगदी फसलों का प्रचलन बढ़ा। दलहन की खेती कम होने लगी। बहुत सारी ऐसी फसलें जो प्रतिकूल मौसम में भी पैदा हो जाती हैं और चावल, गेहूं जैसे अनाजों का विकल्प बनती हैं, उनका उत्पादन बेहद कम हो गया। गन्ना, कपास जैसी नगदी फसलों की खेती की तरफ किसानों का झुकाव हुआ। इस तरह के कैश क्रॉप का परिणाम क्या हुआ, उसे कपास के मामले में हम देख सकते हैं जिसे उपजाने वाले किसानों ने सर्वाधिक आत्महत्याएं कीं।

किसानों के लिए बने राष्ट्रीय आयोग (2006) में "कृषि के विकास में गिरावट का कारण किसानों के परिवारों, नीति तैयार करने वालों तथा जनता के बीच निराशा का वातावरण पैदा हो गया है। महाराष्ट्र, आँध्र प्रदेश, कर्नाटक और केरल जैसे राज्यों के कुछ क्षेत्र गंभीर कृषि संकट से प्रभावित हुए है जिसकी वजह से किसानों द्वारा कभी-कभी आत्महत्याएं की जाती है।"[16] इस तथ्य को स्वीकार किया गया। इसके बाद भी किसानों की आत्महत्याएं रुकने का नाम नहीं ले रही हैं। सरकार ने किसानों के लिए बहुत सी नीतियों को बनाया है जिसमें भारत निर्माण, मनरेगा, राष्ट्रीय बागवानी मिशन, कृषि ऋण का विस्तार, ब्याज दरों में कमी, राष्ट्रीय मत्स्य विकास बोर्ड, कृषि उत्पाद विपणन समिति में बदलाव, एकीकृत खाद्य कानून, वेयर हाउस का निर्माण तथा फसल बीमा योजना इत्यादि है। किसानों को लेकर इस तरह कि योजनाओं के बाद भी कृषि और किसानों की हालत बिगड़ती ही चली जा रही है। उसका प्रमुख कारण कृषि के

बाज़ार का वैश्वीकरण तथा खेती में उदारीकरण की प्रक्रिया को लाना है, जिसकी वजह से बड़ी मल्टीनेशनल कंपनियाँ खेती में अपना व्यापार शुरू करती हैं और सरकार कृषि के क्षेत्र में निवेश को निरंतर कम करती चली जा रही हैं।

1.2 विकास की राजनीति और किसान

हरित क्रांति की सफलता ने राजनीतिक तौर पर भारत में एक नये वर्ग को जन्म दिया जिसे भारतीय राजनीति में मध्यवर्गीय किसान राजनीति के नाम से जाना जाता है। 1970 के दशक में किसान राजनीती के नाम पर चौधरी चरण सिंह का उभार होता है और मध्यवर्गीय जातियों के नेता भारतीय राजनीति में अपनी प्रमुख भूमिका के रूप में सामने आते हैं। कांग्रेस के आधिपत्य को मध्यवर्गीय जातियों और किसानों की पार्टियों से कड़ी चुनौती मिलने लगती है। मध्यवर्गीय पार्टियों के विकास ने भारत में खेतिहर मजदूरों और खेती करने वाली जातियों के बीच में टकराव को सामने लाया। दलित जो मुख्यतः खेतिहर मजदूर थे पारम्परिक रूप से कांग्रेस को वोट करते थे और जहां पर वाम पार्टियों का काम-काज था वहाँ वाम पार्टियों को वोट करते थे लेकिन 1980 के बाद यह तबका कांग्रेस और वाम पार्टियों से दूर जाने लगे और दलितों-पार्टियों का राजनीतिक स्तर पर उदय होता है। वहीं दूसरी ओर भारतीय राजनीति में खेतिहर मजदूरों के बीच असंतोष तेजी से पनपने लगा और इसकी पहली धमक पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी गाँव से शुरु हुई और इसका प्रभाव धीरे-धीरे पूरे देश में हुआ। इस आन्दोलन की वजह से भारत में किसानों के भूमि निर्धारण को लेकर नई तरीके की राजनैतिक बहस चालू हुई। राजनीतिक तौर पर बड़ी जोत वाले किसान कांग्रेस और जनसंघ जैसी राजनैतिक पार्टियों को वोट देते थे और छोटी जोत वाले किसान क्षेत्रीय पार्टियों को वोट देते थे तथा भूमिहीन किसान वाम दलों को वोट देते थे। 1980 के बाद भारत के किसान राजनीति में सांस्कृतिक परिवर्तन आया और किसान और मजदूरों की सर्वस्वीकृत वर्गीय परिभाषा से हट कर 'जाति पहचान वाली राजनीति' भारत में प्रमुख रूप से सामने आई जो अभी तक जारी है।

भारतीय राजनीति में इसका प्रमुख उदहारण पश्चिमी उत्तर प्रदेश की राजनीति है जिसमें जाट पहले अपने को किसानों के रूप में वर्गीकृत करते थे लेकिन बाद में अपने को पिछड़ा समुदाय के रूप में वर्गीकृत करने लगे, जो आज जाटो के विरोध प्रदर्शन आरक्षण

तक सीमित रह गये है। वैश्वीकरण के कारण कृषि के लाभ में आई गिरावट में किसानों को दी जाने वाली सहायता को कम कर दिया गया, फलस्वरूप कृषि का व्यवसाय एक घाटे के व्यवसाय के रूप में उभरा लेकिन किसान अपनी मूल समस्या को नकार कर एक पहचान के साथ राजनीति में सामने आने लगें। दलितों की पार्टी के रूप में जिस पार्टी का उभार हुआ उस पार्टी के कार्यक्रम में से भूमिसुधार का मुद्दा गायब हो गया और दलितों की समस्या महज प्रतीकों तक ही सीमित हो कर रह गई। क्योंकि सभी पार्टियां जो सांस्कृतिक रूप से किसी न किसी पार्टी का प्रतिनिधितित्व करती थी वह नीतिगत तौर पर नवउदारवादी नीतियों का समर्थन करती थी। नवउदारवादी नीतियों के चलते सरकार किसानों को दी जाने वाली सहायता को लगातार कम करती चली आ रही है, 1990 के बाद केंद्र में लगभग सभी पार्टियों की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सरकार बनाने में भूमिका रही है, लेकिन किसी भी पार्टी ने किसानों को लेकर दिलचस्पी नहीं दिखाई जिससे कि किसानों को उनकी बिगड़ती आर्थिक-सामाजिक स्थिति से निकला जा सके। 1990 के बाद जब देश के सामने आर्थिक संकट आया तब सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में दी जाने वाली सहायता उद्योग को कम करने लगी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से सरकारी निवेश से अपने हाथ खींचने लगी।

आठवीं पंचवर्षीय योजना के शुरुआत में कुल जीडीपी के योगदान के कृषि क्षेत्र का योगदान 35 प्रतिशत के आस पास था और उसके बाद यह घटता ही चला गया और 12वीं पंचवर्षीय योजना तक यह घाटा घटकर 15 प्रतिशत के आस पास आ गया। सन् 2000 में आई राष्ट्रीय कृषि नीति में किसानों के लिविंग स्टैण्डर्ड में वृद्धि करने, भारतीय कृषि में समृद्धि की संभावना का दोहन करने, ग्रामीण संरचना को बेहतर करके कृषि का विकास करने, मूल्य वृद्धि में प्रोत्साहन देने, एग्रो बिजिनेस को बढ़ावा देने, ग्रामीण खेत्र में रोजगार में वृद्धि करने, ग्रामीण पलायन को रोकने तथा आर्थिक उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के कारण जो चुनौतिया उत्पन्न हुई है उसका सामना करने का लक्ष्य रखा गया। लेकिन इन सारे लक्ष्यों को प्राप्त करने में अब तक की सरकारें असफल रही हैं। 2007 में आई किसानों के लिए राष्ट्रीय नीति में भी किसानों की स्थिति को बेहतर करने का लक्ष्य रखा गया। जो निम्नलिखित है....

किसानों के लिए राष्ट्रीय नीति के प्रमुख लक्ष्य हैं: (i) किसानों की शुद्ध आय में वस्तुतः वृद्धि द्वारा खेती की आर्थिक व्यवहार्यता में सुधार करना और यह सुनिश्चित करना कि इस आय में हुई वृद्धि से ही कृषि प्रगति को मापा जाए (ii) संरक्षण में आर्थिक हिस्सेदारी बनाकर उत्पादकता, लाभप्रदता और प्रमुख कृषि प्रणालियों की स्थिरता में निरंतर वृद्धि के लिए आवश्यक भूमि, जल, जैव-विविधता और अनुवांशिक संसाधनों की रक्षा और सुधार करना। (iii) किसानों के लिए पर्याप्त मात्रा में सस्ती कीमतों पर बीज, सिंचाई, बिजली, मशीनरी और उपकरण, उर्वरक और क्रेडिट के प्रावधान सहित सहायता सेवाओं को विकसित करना। (iv) किसान परिवारों की आजीविका और आय सुरक्षा और देश की स्वास्थ्य और व्यापार सुरक्षा की सुरक्षा के लिए फसलों, कृषि पशुओं, मछली और वन-पेड़ों की जैव-सुरक्षा को मजबूत करना। (v) किसानों की आय बढ़ाने के लिए उपयुक्त मूल्य और व्यापार नीति तंत्र प्रदान करना। (vi) किसानों को पर्याप्त और समय पर मुआवजे के लिए उचित जोखिम प्रबंधन उपायों को प्रदान करना। (vii) भूमि सुधारों में अधूरा एजेंडा पूरा करना और व्यापक संपत्ति और पारिवारिक सुधारों को प्रारंभ करना। (viii) सभी कृषि नीतियों और कार्यक्रमों में मानव और लिंग आयाम को मुख्यधारा में लाना. (ix) सतत ग्रामीण आजीविका पर स्पष्ट ध्यान देना। (x) ग्रामीण भारत में समुदाय केंद्रित भोजन, जल और ऊर्जा सुरक्षा प्रणालियों को बढ़ावा देना और प्रत्येक बच्चे, महिला और पुरुष के स्तर पर पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करना। (xi) उन उपायों को लागू करना जो बौद्धिक उत्तेजनात्मक और आर्थिक रूप से पुरस्कृत करके उच्च मूल्यवर्धन के लिए कृषि उत्पादों की खेती और प्रसंस्करण में युवाओं को आकर्षित करने और बनाए रखने में मदद कर सकते हैं। (xii) जैव प्रौद्योगिकी और सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (आईसीटी) के माध्यम से विकसित सतत कृषि, उत्पादों और प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक आगत (इनपुट) के उत्पादन और आपूर्ति में भारत को वैश्विक आउटसोर्सिंग केंद्र बनाना। (xiii) प्रत्येक कृषि और गृह विज्ञान स्नातक को उद्यमी बनाने के लिए कृषि पाठ्यक्रम और शैक्षिक पद्धतियों को पुन: स्थापित करना (xiv) किसानों के लिए एक सामाजिक सुरक्षा प्रणाली को विकसित और पेश करना। (xv) खेतिहर परिवारों के लिए गैर-कृषि रोजगार के लिए पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त अवसर प्रदान करना।[17]

10वीं पंचवर्षीय योजना में कृषि के लक्ष्य में कृषि क्षेत्र के संवृध्दि को 3.97 प्रतिशत रखा गया था तथा "समानता के साथ संवृध्दि" –अर्थात जो सभी क्षेत्रो में व्यापक है और सभी किसानों को कवर करती है, के राष्ट्रीय कृषि नीति के लक्ष्य को

दुहराया गया था। उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न हो रही चुनौतियो के सामने कृषि उत्पादों के निर्यात से अधिकतम लाभ प्राप्त करती है ऐसी संवृध्दि पर जोर दिया गया। 11वीं पंचवर्षीय योजना में तो "समावेशी विकास" को योजना का प्रमुख केंद्र बिंदु बनाकर कृषि के बारे में कहा गया कि

"ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) में 'समावेशी विकास' का एक महत्वपूर्ण पहलू कृषि और संबद्ध क्षेत्रों से जीडीपी में प्रति वर्ष 4 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य प्राप्त करना है। यह लक्ष्य न केवल मुद्रास्फीति के बिना प्रति वर्ष 9 प्रतिशत के सकल सकल घरेलू उत्पाद विकास लक्ष्य को हासिल करने के लिए आवश्यक है, बल्कि यह 'समावेशिता' का एक महत्वपूर्ण तत्व है। क्योंकि विकास और गरीबी में कमी के वैश्विक अनुभव दर्शाते हैं कि कृषि में होने वाली सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि गरीबी को कम करने में, कृषि के बाहर होने वाली सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि की तुलना से कम से कम दोगुनी प्रभावी है."[18]

12वीं पंचवर्षीय योजना में भी कृषि के लिए "हालांकि कृषि अब सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का केवल 14 प्रतिशत है, फिर भी यह ग्रामीण आबादी के अधिकांश लोगों के लिए आजीविका का मुख्य स्रोत है। इस तरह, कृषि की तीव्र वृद्धि समावेश के लिए महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र के भीतर महत्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन हो रहे हैं और बेहतर प्रदर्शन के निश्चित संकेत हैं."[19]

इसको स्वीकार किया गया कि कृषि क्षेत्र में आज भी उच्च संवृद्धि समावेशी विकास के लिए महत्वपूर्ण है, लेकिन 1990 के बाद बार-बार इस बात को दुहराया गया और किसानों के लिए योजनाओं और कागजों पर सैकड़ों योजनाये बनती रही, फिर भी किसानों की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पा रहा है। महत्वपूर्ण बात यह है की जहाँ-जहाँ हरित क्रांति की सफलता रही वहाँ आज किसानों को आत्महत्या करने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। उसका प्रमुख कारण किसानों का क़र्ज़ में होना –वह चाहे विदर्भ हो या पंजाब या कर्नाटक हर जगह, आत्महत्या का कारण ऋण ग्रस्तता रही है। भारत में आधे से अधिक किसान ऋण में डूबे हुए हैं। स्थिति मूल्यांकन सर्वेक्षण द्वारा प्रदत्त किसान परिवारों में ऋण ग्रस्तता के विश्लेषणों से पता चला है कि उनमें से लगभग आधे (48.6 प्रतिशत) ऋण ग्रस्त थे और उनके कर्ज़ का 42.3 प्रतिशत स्रोत गैर

संस्थानिक स्रोत से था। किसान परिवारों के बीच अनुमानित सर्वाधिक ऋण ग्रस्तता आन्ध्र प्रदेश (82 प्रतिशत) में थी, तमिलनाडु में 74.5 प्रतिशत और पंजाब में 65.4 प्रतिशत और ऋण ग्रस्त किसान परिवारों की अनुमानित संख्या सबसे अधिक उत्तर प्रदेश में फिर क्रमशः आँध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश में थी। औसतन साधारण ऋण प्रति कृषक परिवार सर्वाधिक पंजाब (4,15,676 रुपये) में थी, केरल (33,907 रुपये), हरियाणा (26,007 रुपये), आध्रप्रदेश (23,956 रुपये) और तमिलनाडु (23,963 रुपये) क्रमशःबाद के स्थानों पर थे।

आज़ादी के बाद 26 जनवरी 1950 को हमारे देश का संविधान स्वीकार कर लिया गया था, उसके दो साल बाद देश में आम चुनाव होते हैं जिसमें काँग्रेस को बहुमत मिलता है और पंडित जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री बनते है। तत्कालीन समय में नेहरू के समक्ष जो महत्वपूर्ण चुनौतियाँ थी उसमे सर्वाधिक चुनौती थी "हिंदुस्तान की तीन चौथाई से अधिक खेतिहर आबादी को हर तरह के शोषण और उत्पीड़न से मुक्त करना। लेकिन इनमे से बहुसंख्या में किसान या तो भूमिहीन थे या उनके पास इतनी कम ज़मीन थी कि उसके बल पर वे अपने और अपने परिवार का जीवनयापन नहीं कर सकते थे। गाँवों में भयावह विषमता व्याप्त थी। सिर्फ दो-तीन फीसदी भूस्वामी 70 फीसदी ज़मीन के मालिक थे।"[20]

आज़ादी की लड़ाई के दौरान काँग्रेस ने गाहे-बगाहे यह वादा किया था कि वह देश से जमींदारी प्रथा को समाप्त करेगी और किसानों को भूमि-सुधार के जरिये वह हर तरह के शोषण से मुक्ति दिलाएगी। आज़ादी के बाद देश के नियोजित विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाई गई। उनका मुख्य ध्येय था सर्वतामुखी और समन्वित विकास करना। इन योजनाओं का कार्य था एक तरफ किसान की दशा को सुधारना वहीं दूसरी ओर देश को आत्मनिर्भर बनाने का लक्ष्य भी था। पहली पंचवर्षीय योजना में इस उद्देश्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। लेकिन पहले आम चुनाव में जीत के बावजूद दक्षिण-भारत के राज्यों में काँग्रेस को वामपंथी दलों द्वारा जो चुनौती मिल रही थी, उसके कारण यह जरूरी हो गया था कि सरकार अपनी नीतियों में ऐसे परिवर्तन करे जिससे समाज के शोषणकारी ढांचे में बदलाव आए और विकास की पहुँच सरकारी फ़ाइलों से

बाहर निकल गाँव तक पहुंचे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के केंद्र में किसान थे, कृषि क्षेत्र में सुधार को मुख्य तौर पर रखा गया था हालांकि उसके सुधार की कोई स्पष्ठ रूपरेखा तैयार नहीं थी। दूसरे पंचवर्षीय योजना में कृषि के स्थान पर औद्योगीकरण पर बल दिया गया लेकिन कृषि में सुधार को बनाए रखने के लिए सिंचाईं जैसे साधनों पर धन आवंटन को पहले की तुलना में बढ़ाया गया।

सन् साठ के अंतिम वर्षों में देश में उत्पन्न गंभीर अन्न संकट की पृष्ठभूमि में 'हरित क्रांति' की शुरुआत हुई। भारत में हरित क्रांति की शुरुआत सन् 1966-67 से हुई। 'हरित क्रांति एक नयी औघोगिक कृषि प्रणाली थी। इसका मूल उद्देश्य कृषि रसायनों और तथाकथित उन्नत संकर बीजों के व्यापार को प्रोत्साहित करना था'। हरित क्रांति के संदर्भ में हिंदुस्तान के किसानों के सामने यह दलील पेश की गई कि इसके प्रयोग से दुनिया में अन्न के अभाव एवं भूख के साम्राज्य का नाश हो जाएगा। दुनिया के नक़्शे में हरित क्रांति की औपचारिक शुरुआत सन् 1943 में मेक्सिको में हुई। मेक्सिको तत्कालीन समय में खाद्य सामग्री का सबसे बड़ा आयातकर्ता देश था। खाद्य संकट से निपटने के लिए वहाँ के संस्थान को केंद्र बनाया गया 'अंतराष्ट्रीय गेहूं एवं मक्का शोध केंद्र' यह 'सिमिट' का पूर्ववर्ती रूप था। सिमिट के माध्यम से अमेरिकी निवेश के पक्ष में उचित माहौल बनाया गया और उसके बाद इस प्रयोग को एशिया के देशों में करने की ठानी गई। हरित क्रांति के माध्यम से जिन फसलीय प्रजातियों का विकास हुआ, उसको लेकर अनुसंधानकर्ताओं ने यह भी आगाह किया की संकर फसलों का उत्पादन तभी बढ़ेगा जब उसके साथ भरपूर रासायनिक खादों, कीटनाशकों, खर-पतवार नाशकों का समुचित प्रयोग किया जाएगा। यही कारण रहा कि हरित क्रांति की शुरुवात से ही बहुराष्ट्रीय निगमों का मुख्य उद्देश्य अपने व्यापार को बढ़ाना और पूंजी आधारित मुनाफा कमाना था। हरित क्रांति के मुख्य उत्प्रेरक तत्व बने बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशकों का बहुतायत मात्रा में उपयोग की सलाह और नियंत्रित सिंचाईं व्यवस्था। नई तकनीक के नाम पर ट्रैक्टर, डीजल और विद्युत चालित पंप सेट, हार्वेस्टर, क्रशर इत्यादि का उपयोग बढ़ा। इसके साथ ही इन संसाधनो के निर्माण और व्यापार के क्षेत्र में भारतीय और अमरीकी पूंजी के बीच आपसी सहयोग बढ़ा। हरित क्रांति के अनुसार सुझाए रास्ते पर खेती करने के लिए किसानों को पूंजी की आवश्यकता पड़ी। इस जरूरत को तत्कालीन समय मे बनें राष्ट्रीयकृत बैंको और सरकारी वित्तीय संस्थाओं के जरिये कम

ब्याज पर ऋण देकर पूरा किया जाने लगा। हरित क्रांति अनाज की उत्पादकता को बढ़ाने में कामयाब हुआ साथ ही बाज़ार का भी विस्तार करने में भी सफल हुआ लेकिन नौवें दशक तक आते-आते हरित क्रांति अपनी गति को खोने लगा और खाद्यान्न उत्पादन में गिरावट दर्ज होने लगी। देश में हरित क्रान्ति का प्रभाव कुछ विशेष फ़सलों तक ही सीमित रहा, जैसे- गेहूँ, ज्वार, बाजरा। अन्य फ़सलों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यहाँ तक कि धान की खेती भी इससे बहुत ही कम प्रभावित हुई। व्यापारिक फ़सलें भी इससे अप्रभावित ही रहीं। हरित क्रांति को कोई संस्थानिक सफलता नहीं मिली। हरित क्रांति के जरिये ही भारतीय किसानों के बीच पूंजीवादी कृषि को बढ़ावा मिला, जिसके दुष्परिणाम अब देखने को मिल रहे है। अधिक उपजाऊ किस्म के बीज एक पूंजी-गहन कार्यक्रम हैं, जिसमें उर्वरकों, सिंचाई, कृषि यन्त्रों आदि आगतों पर भारी मात्रा मे निवेश करना पड़ता है। पूंजी आधारित कृषि में भारी निवेश करना छोटे तथा मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर हैं। इस तरह, हरित क्रान्ति से लाभ उन्हीं किसानों को हुआ, जिनके पास निजी पम्पिंग सेट, ट्रैक्टर, नलकूप तथा अन्य कृषि यन्त्र रहे। यह सुविधा देश के बड़े किसानों को ही उपलब्ध है। सामान्य किसान, मध्यम और छोटी जोत वाले किसान इन सुविधाओं से अब भी वंचित हैं।

हरित क्रांति ने संस्थागत सुधारों की आवश्यकता पर बल नहीं दिया। नई विकास नीति मे संस्थागत सुधारों की आवश्यकता की सर्वथा अवहेलना की गयी है। संस्थागत परिवर्तनो के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण घटक भूमि-सुधार की व्यवस्था है। इसकी सहायता से ही तकनीकी परिवर्तन द्वारा अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। देश में भूमि सुधार कार्यक्रम सफल नहीं रहे और उन्हे गलत सरकारी नीतियों के तहत होने भी नहीं दिया गया। यही कारण है कि लाखों किसानों को आज भी भू-धारण की निश्चितता नहीं प्रदान की जा सकी है। हरित क्रान्ति के अन्तर्गत प्रयुक्त कृषि यन्त्रीकरण के फलस्वरूप श्रम-विस्थापन को बढ़ावा मिला है। ग्रामीण जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा रोज़गार की तलाश मे शहरों की ओर पलायन करने की ओर मुड़ा जो एक महत्वपूर्ण कारण है।

अपने सामाजिक दुष्प्रभाव में हरित क्रांति ने न केवल विस्थापन जैसी समस्या को पैदा किया बल्कि आय की बढ़ती असमानता, जो भारत में पहले से ही असमान थी

उसको भी बढ़ावा दिया। कृषि में तकनीकी परिवर्तनों का ग्रामीण क्षेत्रों में आय-वितरण पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। डॉ॰ वी. के. आर. वी. राव के अनुसार, "यह बात अब सर्वविदित है कि तथाकथित हरित क्रान्ति, जिसने देश मे खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने मे सहायता दी है, के साथ ग्रामीण आय मे असमानता बढ़ी है, बहुत से छोटे किसानों को अपने काश्तकारी अधिकार छोड़ने पड़े हैं और ग्रामीण क्षेत्रों मे सामाजिक और आर्थिक तनाव बढ़े हैं।"[21] वही चंडीगढ़ स्थित समाजशास्त्री प्रमोद कुमार का कहना है "समृद्धि बढ़ने के साथ दहेज की मांग बढ़ी। उसका सबसे ज्यादा असर छोटे किसानों के ऊपर पड़ा, क्योंकि उनके पास पैसे भी नहीं थे दहेज देने के लिए। उन्हें कर्ज़ लेना पड़ा इसलिए सामाजिक जरूरत बढ़ने के साथ उसे फसल के उत्पादन के लिए आवश्यक सामान को बेचना जैसे ट्रैक्टर बेचकर मारुति कार ली और दहेज में दे दी"।[22]

अगर हरित क्रांति की सफलता को भी देखा जाए या एकबारगी ठहरकर सोचा जाये कि हरित क्रांति को क्या किसानों को उसके संकट से उबारने के लिए लाया गया था या फिर उसकी मंशा कुछ और थी? भूमि सुधार की प्रणाली न लागू करने वाली सरकारों ने हरित क्रांति को किसानी संकट से उबारने के लिए सरकारी हथियार के रूप में आज़माया। सरकार ने अपनी वर्ग पक्षधरता को जिस रूप में समझा वह किसानों के प्रति उदासीन रवैये का ही परिणाम है। ट्रैक्टर-पंपिंग सेट आदि उन्नत औजार, उन्नत बीज, खाद-कीटनाशक जैसी लागत सामग्रियों में पूंजी लगाने के लिए बैंकों से अधिकांश कर्ज़ बड़े जोतदारों को आसानी से मिलने लगे जबकि छोटी जोत वाले महाजनो के शरण में गए। जिसका सूद बैंक से भी कई गुना ज्यादा था ।कुल ग्रामीण ऋण में 60 प्रतिशत से अधिक महाजनी ऋण है । ग्रामीण क्षेत्र में कायम सामंती वर्ग ने हरित क्रांति के संसाधनो के बंदरबाट को सुगम बनाया और हरित क्रांति सबकी पहुँच से बाहर होकर कुछ चंद संपत्तिवान किसानों के आँगन में ही सफल बन कर रह गयी ।

इसका कारण था कि जमींदारी उन्मूलन कानून बनाने के बावजूद सामंती तत्वों ने खुद को जिंदा रखा और कृषि संकट की आड़ में सामंती वर्ग पर भरोसा करने का सरकारी तरीका एक के बाद दूसरे संकट को खड़ा करता गया जिसकी भरपाई के नाम पर पूंजी ने अपने पैर ग्रामीण इलाकों मे खूब तेजी से फैलाये।

1.3 भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में किसान

आज़ादी के बाद भारत में, खेती-किसानी के क्षेत्र में जो संक्रमण हुआ है उसका सार है, सामाजिक रूप से एक संकरे आधार पर टिके कृषि-पूंजीवाद का विकास। बेशक सबसे ज्यादा भूमि मालिकाना वाले संस्तर के गठन में कुछ परिवर्तन पहले की अपेक्षा अभी आई है और पूर्व के जमींदारों का पराभव हुआ है लेकिन धनी किसानों के एक नये तबके ने जगह ले ली है। जैसे, भूमि के केन्द्रीकरण में खेती की जमीन पर मालिकाना हक रखने वाले सबसे ऊपर के 15 फीसदी हिस्से की स्वामित्व वाली जमीन के अनुपात में कोई गिरावट नहीं दिखाई देती है। सबसे उपरी स्तर के भूस्वामी के वर्ग को तरह-तरह के प्रोत्साहन दिए जाते रहे है ताकि, खुद को पूंजीवादी किसानों के वर्ग में तब्दील कर ले। इस तरह भारतीय समाज में सामंती और पूंजीवादी तथा पूर्व पूंजीवादी शोषण के रूपों का गठजोड़ दिखाई देता है, जो देहाती गरीबों के लिए खासतौर पर उत्पीड़क है और पूंजीवादी विकास के प्रभाव को सीमित भी करता है।

कृषि संबंधी विचारों को परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने से पहले संक्षेप में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा कर लेना जरूरी होगा। खेती के माल-वस्तुओं के व्यापर पर हमेशा से कोई पाबंदिया नहीं लगी रही। इसके विपरीत औपनिवेशिक दौर में समग्र रूप में अर्थव्यवस्था कमोबेश मुक्त व्यापर के ही अधीन थी। इस मुक्त व्यापार पर प्रभाव दोनों विश्व युद्धों के दौरान हुआ था। खेती-किसानी खासतौर पर पूरे हीं दौर में किसी भी तरह की पाबंदियों से मुक्त रही। हालत तो यह थी कि, जिन वर्षों में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा उन्ही वर्षों में बंगाल से बाहर का चावल निर्यात हो रहा था। यह औपनिवेशिक सत्ता के एक दूसरे पहलू को भी उजागर करता है, जिसमें उसका लक्ष्य स्पष्ट था कि हिन्दुस्तान की जनता के जान की कीमत पर अपना लाभ कमाना। इस स्वतंत्रता के चलते निर्यात के लिए नकदी फसलों का उत्पाद बढ़ रहा था। लेकिन, चूँकि पंजाब की नहरों के किनारे बसाई गई बस्तियों को छोड़कर, कुल खेती के रकबे में बढ़ोतरी के लिए, सिंचाईं व्यवस्था में कोई खास निवेश नहीं किया गया था। नकदी फसलों की पैदावार में यह बढ़ोतरी, खाद्य फसलों के रकबे में गिरावट की कीमत पर हो रही थी। चूँकि, खेती की प्रति एकड़ पैदावार में बढ़ोतरी नहीं हो रही थी, बल्कि उत्पादन के तरीकों में कोई बढ़ोतरी न होने के चलते उसमें गिरावट ही हो रही थी। इसका सीधा अर्थ है प्रति व्यक्ति खाद्यान उत्पादन में गिरावट आना। 1883 से 1947

के बीच के वर्षों में कुल खाद्यान बढ़ोतरी 1.31 फीसदी की दर पर रही। इसी अवधि में प्रति व्यक्ति खाद्यान उपलब्धता में तेजी से गिरावट आई थी। बंगाल में युद्ध के बीच के दौर में यह गिरावट 38 फीसदी थी और सबसे सम्पन्न राज्य पंजाब तक में पुरे 20 फीसदी की गिरावट आई थी।[23] इसी गिरावट ने गरीबी बढ़ाई तथा लोगो को भुखमरी के कगार पर लाकर छोड़ दिया और बंगाल में अकाल की पृष्ठभूमि तैयार की थी। इन परिस्थितियों में जबकि लोगो की जैसे-तैसे अपनी गुजर करने की सामर्थ्य पहले ही बहुत कम हो चुकी थी और ऊपर से युद्ध के खर्च का अतिरिक्त बोझ जानलेवा साबित हुआ।

वर्तमान दौर में खेती-किसानी का जो मौजूदा संकट है वह भी कोई आसमानी नहीं है बल्कि वह पूरा का पूरा सरकारी उदासीनता से उपजा हुआ है। यह कुदरत की मार न होकर सरकार की किसान-विरोधी नीतियों का नतीजा है। किसानी के संकट के पीछे जो सबसे बड़ा कारण नजर आता है, वह है लागत के खर्च का तेजी से बढ़ना और फसल की कीमत का लागत से भी कम होना। महंगी लागत को पूरा करने के लिए किसान क़र्ज़ के जाल में फंसता चला जाता है। स्वतंत्र भारत की खाद्य नीति इसी अनुभव के बीच से निकली थी। एक ओर अगर मूलगामी सुधार नहीं किये गए, फलस्वरूप भारतीय कृषि की उत्पादक संभावनाओ को भी पूरी तरह हासिल नहीं किया जा सका। दूसरी ओर सिचाईं में सार्वजनिक निवेश से लेकर, विस्तार सेवाओं के प्रसार तथा सस्ते ऋण तथा खेतों में लगने वाली लागत को सस्ती दरों पर मुहैया कराये जाने तक, अनेकानेक कदमों के जरिये यह सुनिश्चित किया जा सके की कृषि उत्पादन, खासतौर पर खाद्य उत्पादन आबादी की बढ़त दर के मामूली ही आगे बने रहे।

हम देखते हैं की साठ के दशक तक खाद्यानों की भारी कमी थी, जिसके एवज में देश में खाद्य पदार्थों की आपूर्ति हेतु एक लम्बा-चौड़ा सरकारी तंत्र खड़ा करना पड़ा। बाद के दिनों में इस स्थिति से निपटने के लिए कृषि उत्पादन बढ़ाने हेतु अनेक कोशिशे की गई। इसमें कोई शक नहीं कि उत्पादन में बढ़ोतरी हेतु जो कोशिशे हुई, वह पूंजीवादी उत्पादन की एक उदीयमान प्रवृति के आधार पर हो रही थी। इस प्रवृति को सुधार से वंचित तथा शोषण पर आधारित कृषि ढाँचे के ऊपर से थोप दिया गया था। साथ ही आज़ाद भारत की सरकार ने खाद्य प्रबंध व्यवस्था के साथ, बहुमुखी रोजगार गारंटी योजना के जरिए आय जुटाने के किसी अनुपूरक कार्यक्रम के अभाव में, खेती की

पैदावार से भारतीय देहात में मौजूद भारी गरीबी पर, कोई असर नहीं पड़ा। इन सबके बावजूद उन भयावह अकालों से निजात मिली जो ब्रिटिश भारत की एक खास तरह से पहचान बन गए थे। इस कुछ सुधारात्मक कार्यों से औपनिवेशिक भारत की आखिरी अर्धशती में प्रति व्यक्ति खाद्यान उपलब्धता में जो गिरावट आई थी, उसे न सिर्फ रोका गया बल्कि उस भयावहता को पलटा भी गया। यह तमाम सीमाओं के बावजूद एक महत्वपूर्ण उपलब्धि से कम नहीं है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में जहाँ गरीबी एक स्थायी तत्व के रूप में मौजूद है वहां खाद्य व्यवस्था में मामूली गिरावट बड़ा कहर बरपा सकती है, आज़ादी के बाद प्रारम्भिक वर्षों में इस तरह की स्थिति से बचे रहने के जो कारण था, वह था कि सब कुछ को बाज़ार के भरोसे नहीं छोड़ा जाना चाहिए। बल्कि वह राज्य के सोद्द्श्य हस्तक्षेप के जरिए ही सम्भव हो पाएगा लेकिन 1960 के दशक के उतरार्ध में भारतीय सरकार ने अनाज की कमी को पूरा करने के लिए ज़मीदारी प्रथा को खत्म किये बगैर ही कृषि क्षेत्र में पूंजीवादी नीतियाँ को लागू करने की योजना बनायी गई। इस योजना को हरित क्रांति का नाम दिया। इसके तहत पंजाब, हरियाणा, पश्चमी उत्तर प्रदेश तथा पंजाब से जुड़े राजस्थान के इलाकों में और दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र अदि राज्यों में के उन इलाकों पर ध्यान केन्द्रित किया गया, जहाँ शेष भारत की तुलना में सिंचाईं सुविधा बेहतर ढंग से उपलब्ध थी।

कृषि के लिए एक महत्वपूर्ण स्थापना यह है कि इतिहास के हरेक दौर में, दुनिया के प्रत्येक देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में चाहे वह व्यवस्था राजतंत्र की हो या पूंजीवाद की हो या फिर समाजवाद की हो, हर दौर में कृषि सरकारी सहायता, सरकारी सुरक्षा और सरकारी निवेश के बगैर आगे नहीं बढ़ पाई। हरित क्रांति कुछ ऐसे ही सोच और कृषि संकट के बीच से पैदा हुई योजना है। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यहाँ वर्णित किसान शब्द से हमारा तात्पर्य केवल जमीन के मालिक किसान से नहीं है, बल्कि कृषि से किसी भी तरह से जुड़ा हुआ व्यक्ति चाहे वह मुजरा हो, साझीदार हो, बटाईदार हो, सीरी हो, खेत मजदूर हो या फिर खेती-किसानी से जुड़ा कोई दिहाड़ीदार हो सभी किसान आन्दोलन और उससे जुड़े सवालों के साथ अन्योआश्रय रूप से जुड़े हुए है।

1990 के बाद उदारीकारण और उसके ढांचागत समायोजन के मिले-जुले सरकार समर्थित कार्यक्रम का सीधा-सीधा असर भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था पर पड़ा। भारतीय किसान खेती जीविकोपार्जन के लिए खेती करता है। हरित क्रांति के बाद खेती-किसानी को मुनाफे का सौदा बना कर पेश किया गया, जिसके तहत लागत बढ़ाने पर खूब जोर दिया गया। परन्तु सवाल है की हरित क्रांति के बाद जो किसान खेती को केवल जीविकोपार्जन के लिए नहीं बल्कि व्यवसायिक दृष्टि से भी देख रहे थे, वहां भी यह देखने की जरुरत है कि उनके साथ नव-उदारवाद के बाद हुए आर्थिक परिवर्तन का क्या प्रभाव पडा है? सन् 1990-2015 के दौर में यह पड़ताल करना जरुरी है की हरित क्रांति और आर्थिक नीतियों के एवज में उनके खेती-किसानी का क्या हश्र हुआ? इस हश्र को जानने के लिए हमें पूंजी के उस खेल को भी देखना होगा की वह किस तरह खेती किसानी को व्यवसायिक बनाकर खेती-किसानी से जुड़े लोगो को सर्वहारा बना दे रहा है।

भारत के कृषि-प्रधान देश होने के बावजूद भारत कृषि के क्षेत्र में किसान समुदाय की दशा-दिशा और दूसरे संसाधनों के आधार पर दुनिया से काफी पीछे है। यद्यपि भारत ने हरित क्रांति के जरिये अपने उत्पादन में उल्लेखनीय उपस्थिति को दर्ज किया है, लेकिन देश में किसानों की दशा दुनिया के मानव संसधानों के आधार पर काफी नीचे है। "यहाँ कृषि की दशा सन्तोषजनक नहीं है। कृषि उत्पादन में वृद्धि पूर्व में जनवृद्धि दर से भी कम रही। इसी कारण 1975 तक देश की खाद्य समस्या जटिल बनी रही। निम्न स्तर पर सीमित विकास के बावजूद आज भी भारतीय कृषि परम्परावादी है। भारतीय किसान खेती व्यवसाय के रूप में नहीं करता है, बल्कि जीविकोपार्जन के लिये करता है। कृषि की पुरानी परम्परागत विधियों, पूंजी की कमी, भूमि सुधार की अपूर्णता, विपणन एवं वित्त संबंधी कठिनाइयों आदि के कारण भारतीय कृषि की उत्पादकता अत्यन्त न्यून है।[24]

वर्ष 1991 में तत्कालीन कांग्रेस सरकार द्वारा एक नई आर्थिक-औद्योगिक नीति लाई गई। इस नई आर्थिक-औद्योगिक नीति का प्रमुख उद्देश्य था, पहले से चले आ रहे

उद्योग से जुड़े कानून को बदल देना। इस बदलाव को निजीकरण और उदारीकरण नाम दिया गया। इस बदलाव के मायने थे सभी सार्वजनिक (सरकारी समूह के संस्थान) संस्थानों को धीरे-धीरे उद्योगपतियों के हाथों में बेच देना तथा उन नीतियों को सरल बनाना जिससे उद्योगपतियों को सीधा लाभ पहुंचे और उनके मुनाफे में बढ़ोतरी हो। इसके बाद से ही देश में औद्योगिक क्षेत्र में बदलाव की बाढ़ आ गई। वर्ष 1995 में डंकल प्रस्ताव के तहत भारत विश्व व्यापर संगठन का सदस्य बनता है। विश्व व्यापर संगठन के सदस्य देशों को अपने कानून में उसकी शर्तों के अनुरूप बदलने के लिए पांच वर्षों का समय दिया गया, लेकिन भारत को दस वर्षों (1995-2005) का समय दिया गया। इन दस वर्षों में भारत सरकार ने कृषि, रोजगार, उर्जा, सेवा, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, परिवहन, दूरसंचार आदि मानव जीवन से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों में पहले से चले आ रहे कानूनों को बदल दिया। सरल शब्दों में कहा जाये तो यह कि आज़ादी के बाद देश में किसान और मजदूर को कानून के जरिये जो संरक्षण, अधिकार प्राप्त था उसको समाप्त कर दिया गया। यही नहीं नई आर्थिक-औद्योगिक नीतियां उद्योगपतियों के लाभ को ध्यान में रखकर बनाई जाने लगी, जबकि पूर्व में जो नीतियां थी वह मजदूर-किसान को भी केंद्र में रखती थी। इस बदलाव के साथ किसान-मजदूर को पूंजीपतियों की गलाकाट प्रतिस्पर्धा के दलदल में झोंक दिया गया । इन क़ानूनी बदलाव का असर साफ़ नजर आने लगा जिसका नतीजा है आज मजदूर सबसे अधिक विस्थापित है, किसान या तो आत्महत्या कर रहे है या फिर किसानी को छोड़ कुछ और कर रहे है। किसान और उसकी खेती-बारी की ओर न तो अब सरकार आकर्षित होती है और न ही देश के नागरिक, स्थिति यही है कि आज देश में किसान अदूरदर्शी नीतियों की वजह से सबसे अधिक संकट में है। यही कारण है कि आज किसानों, मजदूरों, आदिवासियों, छोटे व्यवसायी का जीवन स्तर बेहद तेज़ी से नीचे गिर रहा है और वह अपनी सम्पति से भी वंचित हो रहा हैं। "इसी सामाजिक-आर्थिक ढांचे से यह दर्शन अवतरित होता है कि कृषि तो अलाभकारी है और उसे लाभकारी बनाने के लिए उसका व्यवसायीकरण जरूरी है परन्तु प्रश्न है कि वह होगा कैसे"?[25] अगर कृषि का अव्यवसायीकरण होना उसके

असफल होने की वजह है तो हमें पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि क्षेत्रों में देखना चाहिए, जहाँ हरित क्रांति के बाद वहां के किसानों के आर्थिक ढांचे में बदलाव तो आये लेकिन वह बहुत देर तक टिक नहीं पाए। कृषि के व्यवसायिक होने के बाद भी हम देखते है की जमीन का क्षमता से अधिक दोहन होना उस व्यवसायिक कृषि के असफलता की गवाही देता है। उसके साथ-साथ परंपरागत बीजों की जगह बहुदेशीय कंपनियों द्वारा आयातित बीज और रासायनिक खादों के इस्तेमाल से। कीटनाशकों के बड़े पैमाने पर इस्तेमाल से। यह एक वास्तविकता है कि नए किस्म के बीजों और रासायनिक खादों, खासकर यूरिया के प्रयोग से उपज बढ़ी। खेती धीरे-धीरे बेहद महंगी होती गई।

देश के बड़े भू-भाग में धान की खेती होती है। अपने देश में धान के बीजों के विविध प्रकार की खेती पहले से होती आ रही है। अलग-अलग राज्यों में इसकी विविध प्रकार की नस्लें पाई जाती है, जिसका उत्पादन होता है। देखिये कि 'एक मुख्य फसल धान के आंकड़े किसानों की दुर्दशा को और ज्यादा उजागर करते हैं। मौजूदा दशक की शुरुआत में 2010-11 में एक औसत किसान को धान की फसल पर 470 रूपये क्विंटल की लागत आती थी जबकि न्यूनतम समर्थन मूल्य था 950 रूपये क्विंटल। इस तरह उसे करीब 40 फीसद की बचत होती थी। यह बचत 2015-16 में 6.5 और 2016-17 में 6.7 फीसद रह गई है।'[26]

हरित क्रांति से पहले किसानों को लेकर बनाई गई नेहरूवियन विकास मॉडल को 1953 में आई विमल रॉय निर्देशित फिल्म 'दो बीघा जमीन' में दिखाया गया है। जिसमें सिर्फ दो बीघा का मालिक शंभु महतो को अपनी जमीन से बेदखल सिर्फ इसलिए होना पड़ता है, क्योंकि वहाँ पर "द ग्रेट जनता मिल" नामक इंडस्ट्री लगने वाली थी। लेकिन शंभु महतो अपनी जमीन को नहीं बेचना चाहता है। उसको उस गाँव के जमीदार के द्वारा पहले लालच दिया जाता है कि अपनी जमीन दे दो और कुछ रुपये भी ले लो, इस पर भी शंभु मना कर देता है। तब जमींदार कहता है कि खेती कर के क्या मिलेगा, मिल में मजदूरी करोगे और भर पेट खाना खाओगे, लेकिन फिर भी शंभु मना कर देता है। तब उसको झूठे हिसाब-किताब के क़र्ज़ में फसा दिया जाता है। न्यायलय, पुलिस सब

जमींदार के साथ होते है और अंततः शंभु को नौकरी करने के लिए गाँव छोड़कर शहर जाना पड़ता है, जिससे वह क़र्ज़ को चुका सके। लेकिन इस चक्कर में वह ऐसा फंसता है कि कभी भी वह क़र्ज़ न चुका सका और उसकी जमीन पर मिल लग जाती है और शंभु को किसान से भूमिहीन मजदूर होना पड़ता है और यह प्रकिया लगातार आज तक जारी है।[27]

पूंजीवाद मुनाफे पर आधारित एक व्यवस्था है, जिसमें वह अतृप्त मुनाफे की प्यास को पूरा करने के लिए मानव-श्रम का अंधाधुंध दोहन करता है। ऐसा करते हुये वह मानव-प्रकृति के बीच के संबंधो को भी दरकिनार कर देता है जिसका नतीजा हुआ कि आज प्रकृति और मानव के बीच का संतुलन दयनीय स्थिति में पहुँच चुका है। आज कृषि के क्षेत्र में जिन बड़ी-बड़ी कंपनियों को प्रवेश दिया जा रहा है, उसकी यह आम प्रवृति है की ज्यादा से ज्यादा मुनाफे के लिए वह जमीन का अधिक से अधिक दोहन करती हैं। अत्यधिक उत्पादन के लिए भारी मात्रा में रसायनिक खादों, कीटनाशकों, खर-पतवार नाशकों और भारी मशीनों का वह उपयोग करें।

पूंजीवादी विकास की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह उत्पादन के साधनों (means of production) से छोटे किसानों और उत्पादको को साधनों से बेदखल कर देता है। इस संदर्भ में यह देखना जरुरी है कि में भूमि सुधार को पहली पञ्चवर्शिय योजना में शामिल किया गया लेकिन कही भी भूमि सुधार को लागु नहीं किया गया। कांग्रेस जिस वर्ग की पार्टी थी वो जमींदार थे, इसलिए कभी भी भूमि सुधार को लागु करने को लेकर मजबूत राजनीतिक इच्छा शक्ति नही दिखाई दी। आज़ादी के चालीस साल के बाद जमीन सम्बंधित किसानों की स्थिति निम्न लिखित है,

भूमि का वितरण

जोत	परिवारों का प्रतिशत	जोतों का प्रतिशत
भूमिहीन	11.24	
उप-सीमांतीय जोतें (0.01-0.99 acres)	40.11	3.80
सीमान्त जोतें [1.00-2.49 acres]	20.52	13.13
छोटी जोतें [2.50—4.99 acres]	13.42	18.59
मध्यम जोतें [5-14.99 acres]	12.09	37.81
बड़ी जोतें [15 acre +above]	2.62	26.67
कुल	100.0	100.0

स्रोत: जोतों की पारिवारिक स्वामित्व के कुछ पहलुओं पर आधारित 5वीं NCF रिपोर्ट की तालिका 1-1991-92. NSS रिपोर्ट-399

भारत में भूमि सुधार का नतीजा ये रहा कि 11 प्रतिशत परिवार भूमिहीन है और 75 प्रतिशत से ज्यादा किसान सीमांत और लघु जोत वाले है, जबकि कुल जमीन का 26 प्रतिशत जमीन रखने वाले किसान सिर्फ 2.62 प्रतिशत ही है।[28] आज़ादी के पहले दशक तक भूमि सुधार का मुद्दा एक प्रमुख राजनीतिक सवाल था लेकिन धीरे धीरे यह मुद्दा सत्ताधारी पार्टियों के घोषणा पात्र से गायब हो गया। भूमि सुधार न होने के कारण भारत में किसानों का कोई एक समान वर्ग नहीं है। राष्ट्रीय किसान नीति के अनुसार "किसान" शब्द से तात्पर्य भूमिहीन कृषि श्रमिक बतौर, काश्तकार, लघु सीमांत उप सीमांत खेतिहर, बड़े जमीन वाले किसान, कुक्कुट व पशुपलान में लगे अन्य किसान, चरणिक बागान कामगार और साथ ही वे ग्रामीण और जनजातीय किसान भी शामिल है, जो अनेक प्रकार से खेती से जुड़े व्यसायो में लगे है जैसे की मधुमक्खी पालन, रेशम पालन और क्रीमी पालन। इस शब्द के अन्दर वे जनजातीय

परिवार भी शामिल होंगे जो झूम खेती के कार्य और गैर इमारती वन उत्पादों के संग्रहण व उपयोग के कार्य में लगे है।

किसानों के बीच जो वर्गीय संघर्ष है उसको बगैर चिन्हित किये हुये सरकारों ने किसानों की परिभाषा को निर्मित किया और उनमे विभिन्न वर्ग के किसानों को शामिल कर लिया सिर्फ भूमिहीन किसानों को एक एकड़ भूमि देने के आलावा। किसानों के अंतर्गत भी कई स्तर के किसान पाए जाते है, जिनके खुद के अंतर्विरोध होते है और उनके वर्गीय हित अलग-अलग होते है। जैसे भूमिहीन किसानों का और बड़े भूमि वाले किसानों के वर्गीय हित ठीक एक दूसरे के विपरीत होते है। क्योंकि भूमिहीन किसान अपने मजदूरी को हर समय बढ़ाना चाहेंगे तथा भूमि वाले किसान मजदूरी को कम ही रखना चाहेंगे जिससे अपने मुनाफे को बढाया जाए। इसका तात्पर्य यह है की किसानों के नाम से बनाई जाने वाली नीतियों का लाभ लेने वाला तबका बड़े किसानों का है क्योंकि इस प्रणाली के तहत लघु और छोटे किसानों के पास सरकार द्वारा चलाई गई योजनाओ का कोई विशेष लाभ नहीं मिल पाता है।

आर्थिक तौर पर जब सभी सत्ताधारी राजनीतिक पार्टियों ने नवउदारवादी नीतियों को अपना लिया है, तब कृषि पर पड़ने वाले वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के प्रभावों का विरोध करने के लिए कोई राजनीतिक पार्टी सामने नहीं आती है। उसका प्रमुख कारण सत्ता में आने के बाद भारत द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किये गए समझौतों के सामने वह घुटने टेक देती है, जिससे किसानों के लिए जो वायदे चुनाव में किये गये है उसको भी सत्ताधारी पार्टी द्वारा पूरा नहीं किया जाता है। दूसरा प्रमुख कारण यह है कि कृषि का भारत के जीडीपी में सबसे कम योगदान है जो दिन-प्रतिदिन और कम ही होता जा रहा है, जिससे सरकार कृषि क्षेत्र पर कम ध्यान देती है। क्योंकि जो पार्टियां चुनकर आती हैं उनका चुनाव फण्ड बड़ी कंपनियों, उद्योग समूहों से आता है, जिससे सरकारें उन कंपनियों के हित में काम करती है, बड़ी-बड़ी कंपनियों के लाखों करोड़ के खर्चे हाल के दिनों में नॉन प्रॉफिट एसेट्स (NPA) के नाम पर माफ़ कर दिए गये, लेकिन किसानों द्वारा लिए गये कर्जो को सरकार माफ़ नहीं करती। किसानों के समावेश का मुद्दा सिर्फ चुनावों तक और सरकारी फाइलों तक ही सीमित रह गया है। क्योंकि जब एक तरफ समावेशी विकास और 'सबका साथ सबका विकास' जैसे नारे सुनाई दे रहे है, तब दूसरी

तरफ किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्याओं की संख्या भी तेज़ी से बढ़ रही है और किसानों के लिए खेती करना एक घाटे का उपक्रम बनता जा रहा है, क्योंकि लागत ज्यादा और मुनाफा कम हो रहा है। इसलिए किसानों के लिए समावेशी विकास एक विरोधाभासी शब्द बन कर रह गया है ।

संदर्भ:-

1. Inclusive Growth: What does it mean? Montek Singh Ahluwalia (Deputy Chairman of Planning Commission of India). http://www.cuts-international.org/30thAnniversaryLectures/pdf/Inclusive_Growth_What_does_It_Mean-Montek_Singh_Ahluwalia.pdf
2. The Inclusive Growth and Development Report 2017(World Economic Forum)
3. http://www.undp.org/content/undp/en/home/ourwork/povertyreduction/focus_areas/focus_inclusive_development.html
4. आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-1997) http://planningcommission.gov.in/plans/planrel/fiveyr/index8.html
5. Genesis of the capitalist former, capital vol. 1 Moscow: progress publishers, 1965 pp. 743-744
6. http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/17291/10/11_chapterप्रतिशत204.pdf
7. वहीं
8. Y.V.KrishnaRao, *Agrarian Scenario: 1947-1997,* Navkamataka Publications, Bangalore, 1999 pp-१८
9. V.I.Lenin, *The Development of Capitalism in &issia,* Progress Publishers, Moscow, 1977
10. Farmers' Suicides in Punjab: A Census Survey of the Two Most Affected Districts R S Sidhu, Sukhpal Singh, A S BhullarEconomic& Political Weekly Supplement june 25, 2011 vol xlvi nos 26 & 27 pp१३१ १३७

11. Economic Liberalisation and Indian Agriculture: A Statewise Analysis G S Bhalla, GurmailSingh december 26, 2009 vol xliv no 52 EPW Economic & Political Weekly pp३४-४४
12. भारत का गहराता कृषि संकट और किसानों की आत्महत्याएं , पृष्ठ-69, अभिनव कदम
13. वहीं पृष्ठ-70
14. राष्ट्रीय किसान नीति का संशोधित मसौदा, www.krishakayog.gov
15. राष्ट्रीय किसान नीति, 2007
16. 11th पंचवर्षीय योजना आयोग से http://planningcommission.gov.in/plans/planrel/index.php?state=planbody.htm
17. भारतीय कृषि की समस्याएँ, www.kisanhelp.in
18. वहीं
19. विशव्यापी कृषि संकट, संपादकीय, पृ-2
20. फिलहाल, पत्रिका, 27 जुलाई 2017
21. भारत का गहराता कृषि संकट, पृष्ठ-76
22. वहीं, पृष्ठ-76-77
23. भारतीय आर्थिक विकास का आयाम, प्रभात पटनायक का आलेख, पृष्ठ-8
24. भारत का गहराता कृषि संकट, पृष्ठ-76-77
25. NSS रिपोर्ट-399, टेबल - 1991-92
26. राष्ट्रीय किसान नीति, 2007
27. विशव्यापी कृषि संकट, पृ- 23
28. भारतीय किसान का यथार्थ, जबरीमल पारख, पृ-58

दूसरा अध्याय

समकालीन कथा साहित्य का वैचारिक आधार और समावेशी विकास की राजनीति

1.1 समकालीन यथार्थ का संकट बोध और साहित्य की दुनिया

2.2 समकालीन परिदृश्य में किसान: जीवन कथा साहित्य और तंत्र का यथार्थ

समकालीन कथा साहित्य का वैचारिक आधार और समावेशी विकास की राजनीति

सन् 1980 के बाद का समय परिवर्तन की दृष्टि से बेहद अर्थपूर्ण रहा है। इस दौरान न सिर्फ दुनिया बदलनी शुरू हुई बल्कि शब्दों और भावों-विचारों में भी मौलिक बदलाव आयें। इसके साथ ही किसानी और उससे जुड़े संबंधों, व्यवहारों में भी परिवर्तन की गूंज सुनाई पड़ने लगी, गैर बराबरी के प्रश्न पर नए सिरे से बहस शुरू हुई। आधुनिक समाज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सामाजिक गैर-बराबरी और आर्थिक असुरक्षा की कोई जगह नहीं होती है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था एक लोक-कल्याणकारी राज्य के रूप में कार्य करता है, जिसके केंद्र में राज्य के वह लोग होते हैं जो सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े हुये होते है। भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था में पंचायत से लेकर संसद तक स्वतंत्रता, समानता, न्याय, धर्मनिरपेक्षता जैसी अवधारणाओं का प्रमुख स्थान है, जिसके जरिये लोकतन्त्र को 'जनता के लोकतन्त्र' के रूप में परिभाषित करने की कोशिश की जाती है। ऐसे में यह सवाल स्वभाविक रूप से उठता है कि, क्या सवा सौ करोड़ के इस देश में सही अर्थों में 'जनता का लोकतन्त्र' स्थापित हो पाया है या नहीं? वर्तमान समय में भारत सरकार के योजना आयोग की रिपोर्ट में जब यह कहा जाता है कि देश के 70 प्रतिशत लोग रोजाना 20 रुपए की आय पर जीवन-यापन गुजारा कर रहे है, तब यह जनता का लोकतन्त्र अपने 60 सालों के विकास के सफर के बावजूद आम-जन की नज़रों में खोखला नज़र आता है। प्रश्न है कि वह लोकतान्त्रिक व्यवस्था जो संसद से लेकर पंचायत तक राज्य-विकास के लिए अपने जन-प्रतिनिधियों को चुनती है, वह अपने नेतृत्व में आम-जन के भूख, शिक्षा, घर-स्वास्थ्य और खेत-खलिहान के लिए सरोकारी क्यों नहीं है?

आज़ादी के बाद देश-दुनिया में बदलाव बहुत तेज़ी से हुये है। वैश्वीकरण एक विकास-क्रम की तरह न आकर हमलावर रूप में हम सबके जीवन में आया, जिसका नतीजा हुआ कि लोकतन्त्र अपने चारों स्तंभों के साथ 'बाज़ार' बन गया। वैश्वीकरण के हमले के बाद भारत 'जनता का लोकतन्त्र' वाला देश बनने की जगह पूंजीवादी दुनिया के लिए एक बड़ा बाज़ार बन गया और यहाँ के सभी नागरिक उत्पाद्कर्ता की जगह उपभोक्ता बन गए। वैश्वीकरण के हमले में सबसे बड़ा नुकसान किसान समुदाय का हुआ।

इस खतरनाक हमले की नींव 1991 में ही भारतीय संसद में रखी गई थी। 24 जुलाई 1991 को एक ऐसी आर्थिक नीति भारत में लागू की गई जो भारत की राजनीति के जरिये नियंत्रित न होकर विश्व बैंक और आईएमफ जैसी पूंजीवादी संस्थाओं के जरिये नियंत्रित होने लगी। यह आर्थिक नीति भारतीय जनता के लिए कुचक्र के रूप में सामने आई। इस आर्थिक नीति ने देश-काल की परिस्थितियों को बदल दिया। 1990 के बाद भारत जैसे कृषि प्रधान देश में सबसे अधिक संख्या में किसान आत्महत्या करने लगे। पूंजीवादी मुनाफे के जरिये उद्योग और राजनीति की एक ऐसी जुगलबंदी बनी जिसमें भारत के सामाजिक सरोकार पीछे चले गए। 1990 के बाद पूंजी की संस्कृति का बड़े पैमाने पर उदय होता है और पूंजी आधारित आर्थिक-उदारवाद की नीति भारत की राजनीति को तय करने लगी। आर्थिक उदारीकरण नीति के बाद किसान उत्पादनकर्ता की जगह उपभोक्ता बन गए। अपनी ही जमीन पर वह मुनाफा कमाने के यंत्र मान लिए गए और लोकतांत्रिक चुनाव प्रणाली अपनी गरिमा को खोता हुआ अंतिम आदमी की जगह अमीर आदमी के हाथों की कठपुतली बन गया।

1990 के बाद का समय केवल आर्थिक तौर पर भारत के लिए नुकसानदायक नहीं है बल्कि वह संस्कृति के अपसंस्कृतिक होने का भी दौर है। भारत के हर उस ताने-बाने को तोड़ा जाने लगा जो अब तक इसे जोड़े आया था, अमीर-गरीब की खाई जहां चौड़ी हुई वही सामाजिक तौर पर संकट और बड़ा हुआ। अयोध्या में मंदिर-मस्जिद का विवाद उसके बाद 1992 मे विवादित ढांचे का तोड़ा जाना, गुजरात का दंगा, हिंसा-अपराध का बढ़ता जाना, बेरोजगारी की नित नयी फौज का खड़ा होना, आतंकवाद, भ्रष्टाचार और किसान समुदाय का अधिकतम संख्या में आत्महत्या भारत के नए सच के रूप मे सामने आए है। पिछले दो दशकों में नवउदारवाद अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। नवउदारवाद एक विचारधारा है, जिसके पास अपनी सरकारी मशीनरी है, नीति और कार्यक्रम है। 1990 के बाद के हुये आर्थिक बदलाव में नवउदारवाद समाज के उन नए राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रूपों से जुड़ा है जिनका ज़ोर बाज़ार के रिश्तों और राज्य की भूमिका में फेरबदल और राज्य के कर्तव्यों की भूमिका को सामूहिक की जगह वैयक्तिक जवाबदेही पर तय होने लगता है।

सामकालीन समाज का यह सच हिन्दी कथा-साहित्य में अनिवार्य कथ्य की तरह अभिव्यक्त हुआ है। साहित्य और अभिव्यक्त समय के बीच के अंतर्संबंधों की व्याख्या समय-समय पर की जाती रही है। साहित्य में 1980 के दशक से समकालीनता का प्रश्न सामने

आता रहा है। 1990 के बाद से जीवन मूल्य से लेकर राजनीति, अर्थ और समाज के सरोकार जितनी तेजी से बदले है, उन्होंने साहित्य की दुनिया को खासा प्रभावित भी किया है। यों तो किसी भी बदलते हुये युग के संक्रमण काल में साहित्य और समय की स्थापित मान्यताएं अपना अर्थ संदर्भ बदलने लगती है। समान्यतः साहित्य और समय के बदलते सम्बन्धों पर बात करते हुये पुरानी मान्यताओं को ही आधार बनाया जाता है, जो प्रायः सही नहीं है। क्योंकि जो नई साहित्यिक प्रवृतियाँ होती हैं, वे अपने युग-विशेष की सांस्कृतिक-सामाजिक परिदृश्य को रचती है। यह नयापन समाज के अंदर चल रहे राजनीति, अर्थ, सांस्कृतिक मूल्यों में आए हुये बदलाव में व्याख्यायित हो पाता है। रेमंड विलियम्स अपनी किताब 'Marxism and Literature' में लिखते है "समाज, अर्थव्यवस्था, संस्कृति, ये तमाम क्षेत्र इधर की ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुई संकल्पनाएँ है। एक व्यवस्थित क्रम के रूप में विकसित होने से पूर्व समाज सहयोग, सहकर्म और सहभागिता के रूप में मौजूद था। आरंभ में अर्थव्यवस्था, गृह संचालन के रूप में और उसके उपरांत एक समुदाय की व्यवस्था के रूप में मौजूद रही होगी, वही आगे चलकर उत्पादन, वितरण एवं विनिमय की प्रक्रिया के तौर पर विकसित हुई होगी। इन तमाम परिवर्तनों से पूर्व संस्कृति, खेती और पशुपालन तक रही होगी जो बाद में मानव जीवन के रोजाना की प्रक्रियाओं का स्वरूप ग्रहण करती चली गई। आधुनिक समय में ये तीनों क्रमवार विकसित नहीं हुये बल्कि एक खास बिन्दु पर आकर एक ने दूसरे के विकास एवं गति को वर्तमान रूप में परिवर्तित किया और इसी रूप में हम इतिहास को देखते है"[1]।

बीसवीं सदी की शुरुवात में पूंजीवादी मकड़जाल ने समाज को जटिल अवधारणा में बदल दिया। मार्क्सवादी विचारकों ने यह महसूस किया कि दुनिया को बदलने की प्रक्रिया केवल ऊपरी स्तर पर ढांचागत बदलाव कर देने से नहीं होने वाला है। बदलाव के लिए जरूरी है कि समाज में मौजूद क्रमिक इतिहास चेतना, मानव-जीवन का द्वंद हमें संस्कृति, आर्थिक और साहित्यिक स्तर पर पुनर्विचार करने के लिए समझ देता है, जिसकी ओर इशारा रेमंड विलियम्स उपरोक्त कथन में कर रहे है। वे बतलाते है कि सभ्यता और कृषि के सम्मिलित रूप से ही आधुनिक युग में संस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ है।

राजनीति आधुनिक युग की एक अनिवार्य परिघटना है। आज हम अपने मत-विचार के माध्यम से अपनी राजनीति को चुनते है। हमारे जीवन की समस्याएँ, हमारी कठिनाइयाँ राजनीति से जुड़ी हुई है, इसलिए राजनीति से न हम सभी बच सकते है ना ही हमारा समाज उससे बचेगा। सवाल राजनीति में समर्थन और विरोध का है, उसके

जनतान्त्रिक होने का है। हमारे समाज के उथल-पुथल का एक गंभीर पक्ष वह है जो राजनीतिक नतीजो के संकट से खड़े हुये है। यह तो बहुत चर्चित बात है कि हमारा समाज अभूतपूर्व संकट के दौर से गुजर रहा है और संकट इसलिए है कि मौजूदा ढांचे में मनुष्य कि समस्याओं का कोई समाधान संभव होता हुआ दिख नहीं रहा है? क्योंकि अगर समाधान संभव होता तो संकट खत्म हो सकता था। संकट उस स्थिति को कहते है जिसमें से बाहर निकालने का कोई रास्ता ही न बचा हो। जीवन स्थिति और मानव संबंध दिन-पर-दिन घिनौने होते जा रहे है। प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' के घीसु-माधो कफ़न के पैसे से पूड़ी-सेवईं खाते और शराब पीकर नाचते है तो अनेक लोगों को आज भी यह लगता है की प्रेमचंद ने कुछ ज्यादती कर दी है[2]। साहित्य में जीवन यथावत नहीं होता, आज ऐसी घटनाएँ होने लगी है जिनके बारे में पहले नहीं सोचा जा सकता था।

समाज में बढ़ती हुई व्यावसायिकता और भौतिक संपति के संचय की ललक ने मनुष्य को बतौर संसाधन और उपभोक्ता के नजरिए से देखता-पहचानता है। समाज में जो नव-धनाढ्य वर्ग बन रहा है वह पुराने वर्ग से ज्यादा खूंखार नज़र आता है। अपनी ऐश-मौज और लाभ के सामने वह किसी मूल्य को कुछ नहीं समझता। वह जानता है तो केवल पूंजी के मूल्य को। मनुष्यता को अपनाने से धन जमा करने की उसकी प्रवृति का नुकसान होगा और यह नुकसान उसके लिए असहाय है। इस धनाढ्य वर्ग की उपभोक्तावादी संस्कृति ने घर-परिवार तथा समाज की अन्य सारी संस्थाओं को मनुष्य ने मनुष्य की आपसी बंधुता और सौहार्द से मुक्त कर दिया है। 'क्विक लाभ, क्विक मनी, क्विक उत्पादन, क्विक आनंद की पूंजीवादी संस्कृति है, जिसका जोर बढ़ रहा, पर किसानों पर जो फाँस कस रहा है, वह उसे क्विक मुक्ति के लिए आत्महत्या करने को विवश करता है.'[3]

हमारा समाजिक ढांचा बहुढांचीय है अर्थात उसमे आज के पूंजीवाद के सरगना है, तो सामंती अवशेषो के साथ ही आदिवासी समुदाय के आदिम रूप भी मिलेंगे, परंतु पूंजीवाद सबके ऊपर हावी है। 1990 के पहले कृषि का पूरी तरह पूंजीवादीकरण नहीं हुआ था लेकिन फिर भी पूंजीवादी माल ने गाँव पहुंचकर पुराने जमाने के कृषि-उद्योग धंधों को नष्ट करके पूंजीवादी बाज़ार का विस्तार तो कर ही दिया है। इस देश की रीढ़ के रूप में कृषि को देखा जाता था, लेकिन कृषि जैसे ही पूंजीवादी बाज़ार के चपेट में आता है, उसके साथ ही व्यावसायिकता और उपभोक्तावाद की समझदारी पूरे देश के मानस पर हावी हो गई। इस पूंजीवादी धारणा ने समाज को बहुत बदल दिया है परन्तु समाज का बुनियादी ढांचा नहीं बदला और पहले की तरह शोषण आधारित व्यवस्था भी नहीं बदली

है। 'फ़ांस' उपन्यास के पात्र विजयेन्द्र को अपने रिसर्च के साथ महसूस होता है, कि 'असल राजनीति और उसका अर्थशास्त्र तो समाज के कुछ खास वर्गों के हाथ में है, जो तय करते हैं कि रस्सी कब गले की टाई होगी, कब माला और कब फंदा. यह सरासर लोकतान्त्रिक मूल्यों में कमी और बाज़ार के सामाजिक व्यवहार में बढ़ते हस्तक्षेप के कारण हुई है. इससे निपटने के लिए किसान और किसानी को केंद्र में रखकर योजनायें बनानी होंगी या किसानों को आगे बढ़कर बाज़ार और तंत्र को अपने नियंत्रण में ले लेना होगा. भारत जैसे कृषि प्रधान देश में गाँव, किसान और किसानी की अवस्था लगातार एक उपनिवेश के अंतर्गत रहने वाली जनता की हो गयी तो आखिर क्यों?'[4]

मानवीय सम्बन्धों और संवेदनशीलता पर छाए इस संकट के दौर में प्रश्न बार-बार यही उठ रहा है कि उपाय क्या है? संकट कि समस्या का समाधान क्या है? हमारे समाज के समकालीन संकट का जो स्वरूप है वह परस्पर विरोधी और वैचारिक समझदारी के द्वंद का है। उनके द्वंद के कारण समकालीन यथार्थ कि गतिशीलता की जो दिशा है, उन सबका वस्तुगत चित्रण साहित्य में अपेक्षित है। रचनाकार की चेतना में कम से कम यह तो स्पष्ट होना चाहिए कि वह जिस समाज से घटनाओं का चित्रण, चरित्र और उसके सम्बन्धों को ग्रहण कर रहा है उसका भविष्य क्या है? इस संक्रमणशील संकट में उसके उबरने का रास्ता क्या है? सवाल यह भी है कि समाज के अंदर जो संघर्ष चल रहा है, उसमे रचनाकार की चेतना और सहानुभूति पीड़ा देने वाले के साथ है या पीड़ित के साथ? पक्षधरता का यह प्रश्न ही वैचारिकता का प्रश्न है।

समकालीन दौर का कथा-साहित्य इस संकट से जूझ रहा है। आज के सामाजिक हालातों मे रचनाकार के लिए यह आवश्यक है कि वे साहित्य और साहित्यिकता के लिए प्रयत्नशील रहे वरना व्यावसायिकता और भौतिकता की बढ़ती असामाजिक प्रवृति लेखन-कर्म को अप्रासंगिक बना सकती है।

वर्तमान कि सांस्कृतिक अवधारणा पर विचार करते हुये महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि सामाजिक यथार्थ और सांस्कृतिक यथार्थ को कैसे व्याख्यायित किया जाए? साहित्य में समय की अवधारणा और समाज के समय की अवधारणा इन दोनों के लिए समान भूमि की तलाश ही समकालीनता का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए[5]। समकालीन भारत निस्संदेह त्वरित और दूरगामी परिवर्तनों की एक कहानी है। इस परिवर्तन में हर तरह के परिवर्तन है, कुछ स्वभावजन्य है तो कुछ सप्रयास भी। इस विवेचन के लिए

उदाहरण के बतौर अगर हम आधुनिकता के प्रश्न को ले तो यह स्थापित मान्यता है कि साहित्य में आधुनिकता की परिकल्पना और समाज में मौजूद आधुनिकता की परिकल्पना दोनों के बीच गहरा अंतर है। साहित्य में जिसे औपनिवेशिक आधुनिकता कहकर नकार दिया जाता है वह ही सामाजिक यथार्थ क्यों है? क्या यह स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए कि समाज में मौजूद चेतना जिस आधुनिकता की संस्कृति को ग्रहण करता है, वह रचनाकार कि चेतना में मौजूद आधुनिकता से न सिर्फ भिन्न है, बल्कि एक हद तक विरोधी भी। वर्तमान में साहित्य और समाज के बीच जो जटिलता मौजूद है उसे नए सिरे से हल करने की जरूरत है। साहित्य और समाज में मौजूद उस 'कॉमन कि पुनर्रचना' कि जरूरत साहित्य को है और वही उसका लक्ष्य होना चाहिए जो उसकी पक्षधरता को भी तय करेगा।

2.1 समकालीन यथार्थ का संकट बोध और साहित्य की दुनिया

किसी भी दौर के समकालीन समय को हम उस युग में मौजूद संकट को देखते हुये समझ सकते है, उसे परिभाषित कर सकते है। हमारे समाज का विकास अनेक परिवर्तनों का विकास है, जिसमें सृजन और संकट का द्वंद चलता रहता है। मानव-जीवन में एक संकट जाता है तो दूसरा आ जाता है, लेकिन जब सृजन ही संकट में पड़ जाये तब मानव-जीवन भी खतरे में पड़ जाता है और संकट जाने के बजाय और गहराता चला जाता है। आज समूची मनुष्यता एक नए तरीके के संकट में घिरती जा रही है, जिसके गवाह हमसब रोजाना हो रहें है। आज जिस प्रौद्योगिकी पर मानव-मन ने भरोसा किया था वही प्रौद्योगिकी उसके खिलाफ हो गई है। "हमारी दुनिया वास्तविक न रहकर अब आभाषित हो गई है और आदमी मानुष न रह कर साइबोर्ग बन गया है। साइबोर्ग यानि 'A human being prosthetically enhanced or hybridized with electronic or mechanical components, which interact with its own biological system'.[6] वास्तविक दुनिया को प्रौद्योगिक रूप से शक्तिशाली देश संचालित कर रहे है। 'जलवायु वैज्ञानिक जेम्स लवलाक का कहना है कि धरती को खोद कर, जल को सुखाकर और वातवरण को प्रदूषित कर हम कुछ इस तरह जीने लगे हैं कि मनुष्य का जीवन बहुत तेजी से विनाश की ओर बढने लगा है'[7]।

यह संकट सर्वव्यापी है, जो सभी राज्यों, राष्ट्रों के लिए समान रूप से आया है यह संकट जीवन संस्कृति का है, ज्ञानोदय का है। राष्ट्र और राज्य की सीमाओं के पार यह

विशेषकर वैचारिक मूल्यबोध का संकट है। यह समस्त मनुष्यता का ऐसा मनोवैज्ञानिक संकट है जो उचित मानवीय संबंधो के अभाव में पैदा हुआ है। समाज को विकसित होना था समानता के आधार पर लेकिन वह विकसित हुआ है असामनता की नींव पर। मनुष्यता के उत्थान-पतन का यह संकट राष्ट्र-राज्यों के वैचारिक रूप से कमजोर होते जाने का नतीजा है। दुनिया के हर देश में ऐसे लोगों के समूह है, जो मनुष्यता की लड़ाई को लड़ रहे है उसके लिए चिंतित है। समानता और सद्भावना की बड़ी ज़िम्मेदारी को वो देख रहे है और अपनी कटिबद्धता से वह इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने की कोशिश कर रहे है।

समकालीन यथार्थ बोध में असल संकट पूंजी, श्रम और रोजगार के सह सम्बन्धों की है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने उत्पादन ऊर्जा का विस्फोट किया है उससे पुराने उत्पादन के तरीके, आर्थिक-मूल्य प्रणाली और जीवनयापन के पुराने स्वर डगमगा गए है। हम यह जानते है कि भारत अभी एक विकसन्शील देश के रूप में आगे बढ़ रहा है। पूंजीवादी देश अपनी जरूरत की पूर्ति के लिए जिस तरह की कला और साहित्य की जरूरत होगी वैसे सृजन को बढ़ावा दे रहे हैं। जबकि यह स्पष्ट है कि पिछड़े और विकासशील देशों में स्थिति उससे भिन्न होगी। दोनों ही तरह के देशों में होने वाले सृजन को अपनी इस जरूरत को भी ध्यान में रखना होगा। जहां-जहां पूंजीवाद का प्रभाव विस्तार पकड़ रहा है वहाँ-वहाँ निर्णय का तंत्र आमजन के हाथों से खिसकता जा रहा है, यह शिक्षा और अनुभव दोनों के स्तरों पर घटित हो रहा है।

भारत ही नहीं दुनिया के आधिकांश तीसरी दुनिया वाले देशों में सबसे ज्यादा मेहनतकश आवाम है जिसे पूंजीवादी प्रणाली 'मानव संसाधन' के रूप में जानती है। हर तरह के कलाकार, शिल्पकार, मजदूर-कामगार, बेरोजगार सब बदहाली के दौर में अपना जीवन गुजार रहे है लेकिन किसान और खेत-मजदूर बदहाली और उपेक्षा की चर्चाओं से गायब होते जा रहे है। किसानों को चर्चा से गायब करने की लंबी और घातक प्रक्रिया है। किसानों को चर्चा से गायब करने की प्रक्रिया पूंजी, श्रम और रोजगार के सवाल को गायब करने की साजिश से जुडी हुई है। इसकी शुरुवात 1990 के दौर मे उदारीकरण-वैश्वीकरण के साथ शुरू हो गई थी। उदारीकरण-वैश्वीकरण का यह प्रस्थान बिन्दु तो है लेकिन इसकी जड़ पूंजीवाद की समझदारी के साथ ही भारत में आई थी। इसको गति देने का काम विकास के नाम पर उद्योग को बढ़ावा देने के साथ गाहे-बगाहे शुरू हो जाता है। वह विकास जिसे हरेक सरकार ने अपने चुनावी एजेंडे में भुनाया और आम जनता को

बहलाया-फुसलाया। विकास जिसे सबके लिए होना था और वह इसी नारे के साथ पूंजी के कंधे पर बैठ कर आया था कि वह सबका विकास करेगा, उसकी पहुँच भारत के अंतिम व्यक्ति तक होगी। आज उदारीकरण के माध्यम से यह बात खुलकर सामने आई है कि दुनिया के सकल सम्पति से आमजन को बेदखल किया जा रहा है। छोटे-मोटे शिल्पकार हो, दस्तकार हो या फिर आदिवासी इलाकों में पहाड़ो के ऊपर रहने वाले लोग हो सब इस उदारवादी विकास नीति मे अपनी ही संपति से वंचित हो रहे है। सार्वजनिक संपतियों का निजीकरण जगजाहिर है। जल-जंगल-ज़मीन ही नहीं बल्कि बुद्धि पर भी कब्जा करने का खेल भी इस उदारीकरण में शुरू हो गया है। पात्रकारिता, बुद्धिजीवी जगत इसके ज्वलंत उदाहरण है, जहां पूँजीपतियों ने बुद्धि को कब्जे में कर लिया है। इस बदहाली को लेकर पी साईनाथ कहते है '1980 के दशक में अखबार की दुनिया में किसान, मजदूर और बेरोजगारी को देखने के लिए एक सवंदाता हुआ करता था लेकिन आज मीडिया की दुनिया में यह चिंता नहीं है तो इसको लेकर उनके पास कोई सवंदाता भी नहीं है जो किसान-मजदूर की खबर को लिख सके, सामने ला सके'[8]।

वर्तमान में जो मीडिया है, पात्रकारिता जगत है वह एक उद्योग का रूप ले चुका है। वहाँ खबर के आने-छापने का संबंध उसके सरोकार से कम व्यापार से ज्यादा है। 1990 के बाद से सबसे बदलाव वाले जगहों में मीडिया का भी एक स्थान है। पूंजी ने मीडिया के चरित्र जन-सरोकार की जगह कॉर्पोरेट-सरोकार में तब्दील कर दिया है। मीडिया ने जो माहौल बनाया है उसमे जो उत्पीड़क है वही नायक के बतौर पेश होता है, उसके प्रति आशा भारी निगाह रखी जाने लगती है और जो पीड़ित है उससे उनके प्रति लोगों में नफरत पैदा किया जाता है। किसान के संबंध में यह प्रचारित किया जाता है कि यही लोग देश की प्रगति को रोक रहे है। किसान अपनी ज़मीन देने के लिए तैयार नहीं है तो इस देश का विकास कैसे होगा? मीडिया किसानों को देश के खिलाफ खड़ा कर देता है लेकिन किसान की दुर्दशा के बारे में अपने एक शब्द को भी नहीं खर्च करता है। कुछेक लोग किसान की समस्याओं को लेकर आ रहे है लेकिन वह संख्या कम है और इस घटाटोप में उनकी आवाज कहाँ गुम हो जा रही है पता ही नहीं चलता।

1990 में उदारवादी नीतियों के आगमन के बाद मीडिया ने जिस शब्द को सबसे ज्यादा प्रचलित किया है वह है 'विकास' (Development), इस शब्द का पैरवी करने वाला मीडिया ही है। इस शब्द को हमारे जीवन में उसने इस तरह अनुकूलित किया है कि

विकास को हम सभी ने अपने जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य मान लिया है। विकास शब्द के अंधाधुंध प्रचार में मीडिया ने यह बताने कि जिम्मेदारी कभी नहीं उठाई कि विकास किस तरह का होना चाहिए? किसका विकास होना चाहिए? गरीब का विकास होना चाहिए कि अमीर का विकास होना चाहिए? क्या विकास केवल पूंजी का होना चाहिए? आज के समय में विकास का आलम यह है कि 2 प्रतिशत लोग 80 फीसदी संसाधनो के ऊपर कब्जा किए हुये है। 'विकास' के कुछ नए बिम्ब गढे गए, कुछ नए मिथक रचे गए इनके जरिये भारत के मध्यवर्गीय जीवन जीने वाले लोगों के सामने सपनों का एक बड़ा संसार रचा गया और इस सपनों के संसार को टीवी-अखबार और उसमे प्रचारित होने वाले विज्ञापनो के जरिये बेचा जाने लगा। इस मुनाफे की इजारेदारी में किसान-मजदूर को लूटने का प्रक्रम रचा गया। सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'कालीचाट' इन्ही सवालो को रचनात्मक ढंग से सामने लाने का प्रयास करता है। उपन्यास के नाम से ही यह स्पष्ट है कि मालवा में उस अभेद चट्टान को जो जमीन में छुपे हुये पानी के रास्ते को रोके हुये खड़ी है; इस अभेद चट्टानों को भेदने के लिए पम्प का प्रचार गांव-गांव किया जाता है और प्रचार के प्रलोभन में आकर किसान कर्ज़ लेकर पम्प खरीदते है लेकिन नतीजा वही ढाक के तीन पांत। उन्हें बताने वाला न कोई सरकारी अमला है ना ही कोई सहकारी संस्था, किसान ने जो देखा-सुना उसको ही अपने अनुभव और उम्मीद के मेल से पूरा करने की कोशिश करता है लेकिन उम्मीद का कोई सोता न उस कालीचाट चट्टान से फूटता है और न ही कोई हरियाली उसके खेतों में आती है। इन्ही स्थितियों को बताए हुये दिनेश कहता है 'बाज़ार एक अक्टोपस की तरह है। वह पूरी दुनिया को अपनी भुजाओं में जकड़कर निचोड़ लेना चाहता है। इसी अक्टोपस ने हमारी भी आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक विरासत को ध्वस्त कर दिया है.... और एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया है जो उस पर पूरी तरह निर्भर है'।[9] उपभोक्तावाद को आज की दुनिया में मानव-मुक्ति का सबसे बड़ा मंत्र बना दिया गया है और यहाँ बाज़ार आधारित विकास का मतलब है अधिक से अधिक उपभोग। इसे एक सपने की तरह पूंजीवादी समाज ने लोगो के बीच पहुंचा रखा है।

'कालीचाट' उपन्यास का पात्र दिनेश जिस संकट की तरफ इशारा कर रहा है, वह है मानव-जीवन के ऊपर पूंजी का वर्चस्व और वर्चस्व की प्रक्रिया की खासियत होती है कि वह शोषण-उत्पीड़ित जनता को ही शोषण-दमन को सहने के लिए सहमत करती जाती है। वर्तमान समय में मीडिया यह काम बखूबी कर रहा है। वह राजनीतिक-आर्थिक

कुबेरों के पक्ष में विचारों और मूल्यों को तैयार करता है। नॉम चॉम्स्की इसे 'मेन्यूफैक्चरिंग कंसेंट' या सहमति को गढ़ना कहते है। 1990 के बाद से पूंजीवादी विचार प्रणाली ने इस सहमति को गढ़ने का काम बड़े स्तर पर किया है और इसकी जद में भारत की प्रमुख राजनीतिक पार्टियां हैं, जो अपने राजनीतिक विचारों को तिलांजलि देकर उपभोक्तावाद को ही बढ़ावा देने में लगी हुई है। यही कारण है कि आज उपभोग-संस्कृति अराजनीतिकरण की प्रमुख प्रविधि साबित हो रहे है। लोकतन्त्र पहले सत्ता और शक्ति के संतुलन-सम्बन्धों को साधने की कोशिश करता था, आमजन से सीधे टकराव से बचता था, लेकिन आज स्थिति उलट है। इस वर्चस्व की शुरुआत राजनीतिक रूप से इन्दिरा गांधी के 'आपातकाल' के फैसले से ही शुरू होती है। वर्चस्व की आधुनिक प्रक्रिया को भूमंडलीकरण के दौर में डिजिटल तकनीक और सूचना क्रांति से ताकत मिली है। इस दौर में परिवर्तनकामी विचार इतने संकटग्रस्त नज़र आते है कि वह संघर्ष की जगह प्रतिरोध करते हुये केवल जान पड़ते है। ऐसे ही एक प्रसंग की चर्चा करते हुये आनंद प्रधान लिखते है '2 सितंबर 2015 को 15 करोड़ मजदूर हड़ताल पर थे, उनकी सबसे बड़ी मांग थी कि उनका न्यूनतम वेतन 15 हज़ार रुपए किया जाये। यह एक जायज मांग थी लेकिन पात्रकारिता जगत ने इस हड़ताल को इस तरह से लिखा कि ये हड़ताल करने वाले देश की प्रगति में बाधक है। ये विकास के खिलाफ है। इसके पीछे कम्यूनिस्ट संगठन और पार्टियां थी। वे सरकार के विरोध में है इसलिए इस हड़ताल का आयोजन किया है और इस एक दिन के हड़ताल से देश को 35 हज़ार करोड़ का नुकसाना हुआ होगा'।[10]

आज के समय में जब 'विकास' की रफ्तार असमान गति से आगे बढ़ाने के लिए सभी सरकारी गैर-सरकारी उपक्रम झोंक दिये गए है, तब हमारे देश के मजदूर का यह मांग करना अमीरी का शजर रखने वाले मध्यवर्गीय समाज को नागवार गुजरता है। आज दुनिया भर में यह बहस तेज़ हुई है कि पिछले ढाई-तीन सौ सालों में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इतना ज्यादा नहीं हुआ है जितना पिछले 50 सालों में हुआ है। प्राकृतिक संसाधनों का यह दोहन मुनाफे की सोच वाले समाज में देश को विकसित करने के नाम पर की जा रही है। आज जब हम समकालीन समय के साहित्य की पड़ताल कर रहे होते है, तब साहित्य में मुख्यधारा का सवाल बड़े ही विकट स्थिति में नजर आता है। आज मुख्यधारा का समय विकास का समय है। सभी चीजें, विचार-प्रणाली को यह विकास आधारित मुख्यधारा का समाज ही तय कर रहा है। आज के दौर में मुख्यधारा के साहित्य की शैली में किसान-मजदूर के सवाल न के बराबर है। यह हमारा समकालीन साहित्य है

जिसमें उत्पीड़ित वर्ग को विशिष्ट तरीके से गायब कर दिया गया है। किसान–मजदूर का गायब होना अकारण नहीं है, यह साहित्य के आधुनिकतावादी होते जाने का एक पक्ष है जो किसी का पक्षधर न होते हुये भी उसे लोक से दूर लेकर चला जाता है। साहित्य के अंदर यह संकट पूंजी आधारित विचार-प्रणाली को स्पष्ट रूप से दिखा रहा है जो यथार्थ का सही ढंग से पड़ताल नहीं कर पा रहा है। प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पांडेय इसकी पड़ताल करते हुए कहते है 'हिन्दी क्षेत्र में छोटे-छोटे किसान आन्दोलन चल रहे है, लेकिन कहानीकारों के यहाँ इसका कोई जिक्र नहीं मिलता[11]। मैनेजर पांडेय चिंता के स्वर मे बराबर यह सवाल उठाते रहें है। यह एक विचित्र किन्तु एक तथ्यात्मक सच्चाई है कि 1990 के बाद गांव बदहाल होते गए और इस बदहाली से निकालने के लिए किसानों ने पहले पलायन का रास्ता चुना, लेकिन वह भी जब सफल न हुआ तो वह अंततः आत्महत्या की ओर मुड़ गए। बदहाली और जीवन से बेदखली के इस दंश से किसान गुजर रहे थे लेकिन हिन्दी कथा-साहित्य में किसान जीवन या किसान आधारित यथार्थ की पड़ताल कमजोर ही रही। इस रचनात्मक अनुपस्थिति को लेकर आलोचक बजरंग बिहारी तिवारी लिखते है, 'कथाकारों का प्रायः शहरों में सिमटते जाना, देहाती जीवन से उनकी भौतिक और मानसिक दूरी, गांव केन्द्रित कहानियों का फैशन में न होना, ऐसी कहानियों पर कटाह आलोचकों द्वारा बरती जा रही उपेक्षा, जड़ प्रगतिवादियों और दलित अस्मितावादी कहानीकारों द्वारा नितांत यांत्रिक ढंग से लिखी गई गांव केन्द्रित कहानियों से उपजी ऊब और वितृष्णा इनमे से कुछ वजहें है'[12]। समय के साथ संस्कृति का विकास कैसे होता है, 1990 के बाद जो समय हमारे सामने आया है उसने एक ऐसी संस्कृति को रचा है जिसमें से उन सवालो को गायब कर दिया जाता है या सिरे से गायब कर दिया गया है जो पूंजीवादी समय-संस्कृति में फिट नहीं बैठते। यही बात उन रचनाकारों पर भी लागू होती है जो बाज़ार या आलोचकीय फैशन के दबाव में समाज के बड़े हिस्से के दुख-दर्द को अभिव्यक्ति देने से खुद को मुक्त समझ लिए है।

'1900 से लेकर 1960 तक के सरस्वती अंक में खेती-किसानी की त्रासदी पर एकाध कहानियां ही मिलती हैं। वर्ष 1934 में 'गरीबों का स्वर्ग' (श्रीनाथ सिंह) कहानी में कुछ हद तक गांव, गरीबी, किसानी का दर्द दिखाई देता है। बहुत पहले बेचन शर्मा उग्र की कहानी पढ़ी थी-'अभागा किसान'। यह कहानी 1929 के आसपास लिखी गई थी। तब से अब तक गांवों में बहुत कुछ बदला है मगर उस कहानी में किसान त्रासदी की अभिव्यक्ति आज नब्बे साल बाद भी कमोबेश वैसी ही है। आज अगर कथा साहित्य में वह

नहीं दिखाई दे रही तो उसका कारण, हिन्दी कहानीकारों की प्राथमिकताएं और उनका अभिजन का करीबी होना है। बहुत कम कथाकार हैं जो गांवों और खेती-किसानी की पृष्ठिभूमि पर कहानियां लिख रहे हैं । हिन्दी कथा साहित्य में गंवई पृष्ठभूमि, धूल धूसरित वितान, छीजते नदी-नाले, हरीतिमा से मुक्त होते बाग-बगीचे, बैलों के गले से गायब हो चुकी घुंघरुओं की टनटनाहट, चिड़ियों की टिहकारियां और टोले-जवार में पसरती धूर्तता या अमानवीयता की जब भी जांच पड़ताल की बात उठती है तो हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचंद, रेणु से बात शुरू होती है और हांफते-कांपते कुछ डग भरने के बाद कहने को अकाल पैदा होने लगता है। गांव बदल चुके हैं । गांव की संस्कृति और सामूहिकता में घुन लग चुका है। ऐसे में कुछ कहानीकार गांव-गिरांव की कहानी लिख रहे हैं तो कुछ पुराने आदर्शों को याद कर गांव और खेती-किसानी को 'नॉस्टाल्जिया' की तरह ले रहे हैं'।[13] मूल बात है कि जब रचनाकार अपने संवेदना क्षेत्र को सीमित कर लेगा तो उसके साहित्यिक विमर्श एकांगी होते चले जाएंगे। वर्तमान हिन्दी कथा-साहित्यकारों की यही समस्या है जो विमर्श आधारित साहित्य की रचना को ही अपने समसामयिकी का यथार्थ समझ बैठे है। मुद्दा केवल स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श आदि के शोर में किसान, मेहनतकश के आवाम के गुम हो जाने का नहीं है, बल्कि इन विमर्श आधारित रचनाओं में भी बुनियादी सवाल को गायब कर देना चिंताजनक है। आज के शासन् तंत्र की दृष्टि में भी खेती-किसानी से जुड़े सवाल हाशिये पर है और कथाकार भी इस शासन् आधारित भयावह भूल को ही सच मानकर अपनी रचना कर रहे है।

किसानों को लेकर हिन्दी कथाकार प्रेमचंद ने 1932 में एक लेख लिखा 'हतभागे किसान'। लेख में वे लिखते है 'अब तक सरकार ने किसानों के साथ सौतेले लड़के सा व्यवहार किया है। अब उसे किसानों को अपना जेठा पुत्र समझकर उनके अनुसार अपनी नीति का निर्माण करना पड़ेगा'।[14] प्रेमचंद किसानों के दुख को उसके यथार्थ को समझते थे और उस ज़िम्मेदारी का बखूबी निर्वाहन उन्होने अपने साहित्य में किया। आज साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से किसान के दुख-दर्द, उसके यथार्थ का मूल्यांकन अपने साहित्य में कर सकता है, लेकिन प्रेमचंद की परंपरा के मूल्यों को जीवन और समाज में चरितार्थ कर पाने की गुंजाइश भी आज के साहित्यकारों में नहीं दिखती है। किसान और उसके जैसे मेहनतकश आवाम के साथ सरकारी अमला ही नहीं बल्कि वर्तमान दौर के बहुतायत साहित्यकार भी सौतेला व्यवहार कर रहे है।

नवें दशक के अंत तक आते-आते विचार या विचारधारा के अंत की घोषणा बड़े ज़ोर-शोर से की जाने लगी थी। साहित्य के मानक के बतौर कुछ आलोचकों ने इस वैचारिक अंत को स्थापित करने का प्रयास किया। यह कहा जाने लगा कि राजनीति, अर्थनीति के साथ-साथ साहित्य में भी अब विचार की कोई जरूरत नहीं रह गई है। दरअसल हकीकत तो यह है कि विचारधारा के अंत की घोषणा करने वाले लोग वैचारिक रूप से पूंजी आधारित विचार-व्यवस्था का समर्थन कर रहे थे। विचारधारा के अंत की घोषणा वे लोग कर रहे थे जो जमाने के ऊपर अपनी विचार प्रणाली को लादना चाह रहे थे। वे दुनिया पर अपना आधिपत्य कायम कर लोकतंत्र की जगह फाँसीवाद लाना चाह रहे थे। बल्कि हकीकत यह है कि किसी भी पीढ़ी के हर कथाकार के पास अपनी एक स्पष्ट विचारधारा है, उसकी मूल्य-दृष्टि है जीवन-दृष्टि है। रचनाकार भी समाज में रहने वाला एक नागरिक है। एक नागरिक के रूप में उसके पास भी वही दायित्व है जो एक आम नागरिक के पास होते है, लेकिन वह आम नागरिक से जहां अलग होता है वह है उसकी जीवन-दृष्टि। एक रचनाकार अपने लेखन के माध्यम से अपने समय के लोक और समाज को, उसके यथार्थ को चित्रित करता है और उसे आम लोगो या समाज तक अभिव्यक्त करता है। रचनाकार के लेखन में चित्रण ऐसा होना चाहिए की जिसमें हर तरह के लोग अपना चेहरा देखे, अपनी समस्या को देख पाएँ और समस्या का अगर समाधान हो तो उसको अपनाने का कार्य आम जन करे। इसलिए आवश्यक है कि रचनाकार अपने परिवेश और समाज से जुड़ा रहे, आम जन से निरंतर जुड़ता रहे ताकि उसकी रचनाओं में आम जन के दुख-दर्द की आवा-जाही होती रहे।

साहित्यकार या रचनाकार अपने लेखन के माध्यम से मूल्यों का चित्रण करता है और उसकी पक्षधरता को तय करता है किन्तु यह हर रचनाकार के वश की बात नहीं है। जिनके पास कोई जीवन-दृष्टि नहीं है, कोई वैचारिक मूल्य-दृष्टि नहीं है उनके लिया रचना एक उपभोग की वस्तु हो सकती है। रचना या लेखन कर्म कोई सहानुभूति का कार्य नहीं है। इस सवाल के संबंध में एदुआर्दो गैलियानों ने अपने एक लेख में लिखा है 'जब भी कोई लिखता है तो वह औरों के साथ कुछ बांटने की जरूरत ही पूरा कर रहा होता है। यह लिखना अत्याचार के खिलाफ और अन्य पर जीत के सुखद एहसास को साझा करने के लिए होता है। दरअसल, लिखा उन्ही के लिए जाता है, जिनके नसीब या बदनसीबी के साथ जुड़ाव महसूस किया जाता है। ये वो लोग हैं जो न ढंग का खा सकते है, न सो सकते है, वे इस दुनिया के सबसे दबे-कुचले, अपमानित है और इसलिए सबसे भयंकर विद्रोही

लोग हैं'...।इस तरह, इंसानियत की इस लड़ाई में कला और साहित्य हथियार लेकर चलने वाले अगुआ पंक्ति के सिपाही की तरह है, ये किसी राजा के आरामगाह की चीज नहीं[15]। लिखना एक गतिशील प्रक्रिया है, कोई जादुई प्रक्रिया नहीं है। लेखन-कर्म जो दुनिया वर्तमान में है उसे बेहतर बनाए जाने के लिये हौसला प्रदान करने का काम करता है। वर्तमान समय जितना भयावह है उतना ही अपराधी भी है। आज के दौर में एक का विकास दूसरे के विनाश पर खड़ा हो रहा है। यह केवल भारत की कहानी नहीं है बल्कि यह तीसरी दुनिया के हर उस देश की कहानी है जो कभी औपनिवेशिक सरमायेदारी के अंतर्गत थे और आज पूंजी के बड़े देशों के अधीन हो गए है। यहाँ दूसरे की समस्याओं को बड़ा कर किसी की सुविधा-समृद्धि को बढ़ाया जा रहा है।

2.2 समकालीन परिदृश्य में किसान: जीवन कथा साहित्य और तंत्र का यथार्थ

क) <u>आत्महत्या की फसल</u>

वर्तमान दौर में किसान अपने जीवन के साथ-साथ सरकारी आंकड़ों की किताब में भी बदहाली के दौर से गुजर रहा है। किसान के सन्दर्भ में सबसे प्रचलित जो बात है, उसके आत्महत्या की है, जो दिन-प्रतिदिन बढती ही जा रही है। किसान के बदहाली की स्थिति को लेकर जो सरकारी आंकड़ा है उसके अनुसार 'साल 2016 के इकोनॉमिक सर्वे के अनुसार के भारत के 17 राज्यों में किसानों की सलाना आमदनी 20,000 की है, एक परिवार अगर 1700 रूपये महीने से कम से कम में गुजारा करता है, इससे भयानक क्या हो सकता है'[13] इस सवाल को आगे बढ़ाते हुए कृषि मामलों के जानकार देवेन्द्र शर्मा लिखते है की 'हरित क्रांति के बाद भी अगर इतने कम पैसे में से किसान परिवार को गुजारा करना पड़ रहा है तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है?'[16]

वर्तमान समय में किसान को आर्थिक उदारीकरण की नीतियों ने बहेलिये की तरह दबोच लिया है, किसान समुदाय के लिए यह बेहद घातक समय है। 'खूंखार होते समय में भारतीय किसान, खेत मजदूर की दारुण यातनापूर्ण कहानी से भला कौन संवेदनशील मनुष्य परिचित नहीं होगा। 'जिस मुश्किल समय से हम लोग गुजर रहें हैं, कल हमारी हालत भी इन्हीं की तरह हो जाने वाली है. भूमिहीन होने की तरफ क्या हम नहीं बढ़ रहें?'[17] भारत की मौजूदा आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक संरचना

भूमंडलीकरण के आगोश में है या यूँ कहें की राज्यसत्ता ने पूरे तौर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद के सामने आत्मसमर्पण कर दिया है। कृषि नीतियों में बदलाव के चलते गाँव का किसान बर्बादी का शिकार होता जा रहा है। अपने खेत-खलिहानों-उत्पादों के जटिल सवालों में उलझा हुआ किसान आत्महत्या को मजबूर हो रहा है।'[18]

कहानी 'तरबूज के बीज' में इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहानीकार लिखता है 'मौत का सामान न तो खरीदते बनता है न मंगाते. जो दवाइयां कीड़ों-मकोड़ों को मरने के काम आती थी, उनका इंसानों पर और भी कामयाब इस्तेमाल हो रहा था. हर चीज की तासीर फीकी पड़ती जा रही थी पर ज़हर और भी खालिस होता जा रहा था. इसलिए आजकल उस(गणेशी) जैसे लोग घर के कोने छेतर को खंगालने में लगे थे कि किस्मत इतनी तो न फूटी होगी कि उस जैसी चीज से भी वंचित होना पड़े।'[19] आज भारत में किसान आत्महत्या का आंकड़ा 1990 से 2015 तक आते-आते 4 लाख से उपर जा चुका है, वर्तमान समय में औसतन 34 की संख्या से ऊपर किसान रोजाना आत्महत्या कर रहे है, लेकिन लोक-कल्याण के नाम पार चुन कर आई सरकारें किसान के मुद्दे से पूर्णतः किनारा कर चुकी है। वर्तमान समय की सरकार शहर की योजनाओं को केंद्र में रखकर सरकारी नीतियों का निर्माण करती है। 1990 के बाद भूमंडलीकरण जो कि मूलतः शहर केन्द्रित पूंजी की अवधारणा है, लेकिन वह बाज़ार के दबाव में किसान और उसके गाँव तक पहुँच गई और उसकी पहली नजर किसान के जमीन पर पड़ी कि इस जमीन को कैसे कम दामों में हड़प लिया जाये। भूमंडलीकरण की इन योजनाओं में भारत की केंद्र-राज्य में बैठी सरकारों ने भी बखूबी साथ निभाया। 1990 की कांग्रेस सरकार से लेकर वर्तमान समय की भाजपा की सरकार तक किसान को बर्बाद करने की नीतियाँ एक-समान ढंग से जारी है। इन विनाशकारी नीतियों का प्रभाव हम देखें तो वह सरकारी संवेदनहींनता का बेजोड़ उदाहरण मिलेगा। इस तरह की नीतियों को लागू करने में वामपंथी पार्टी की सरकार भी शामिल रही है, जिससे किसान-मजदूर अन्य राजनीतिक पार्टियों के अपेक्षा उनके सहयोग की अधिक उम्मीद करते है। इसके पीछे कारण है उनका जन-हितकारी होना, उनके राजनीतिक पंक्ति में किसान-मजदूर का अग्रणी होना किसान को और अधिक उम्मीद का दामन देता है, परन्तु पश्चिम बंगाल की बुद्धदेव भट्टाचार्य की सरकार द्वारा लागू किये गए उन नीतियों को देख सकते है जिसकी वजह से सिंगुर-नंदीग्राम जैसे हालत उत्पन्न हुए।

किसान-आत्महत्या के आंकड़ों को देखे तो वह भयावह स्थिति में दिखाई देते हैं। आत्महत्या में भारी बढ़ोतरी के जो आंकड़े यहां प्रस्तुत हैं वह NCRB ने जारी किया है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (NCRB) के ताजा आंकड़ों के मुताबिक, किसान आत्महत्याओं में 42 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। आत्महत्या के सबसे ज्यादा मामले महाराष्ट्र में सामने आए। 30 दिसंबर 2016 को जारी एनसीआरबी के रिपोर्ट 'एक्सिडेंटल डेथ्स एंड सुसाइड इन इंडिया 2015' के मुताबिक साल 2015 में 12,602 किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों ने आत्महत्या की है। किसानों और खेतिहर मजदूरों की आत्महत्या में 2 प्रतिशत बढ़ोतरी दर्ज की गई। एनसीआरबी (NCRB) की इस रिपोर्ट को देखें तो साल 2014 में 12,360 किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों ने खुदकुशी कर ली। ये संख्या 2015 में बढ़ कर 12,602 हो गई। 2014 के मुकाबले 2015 में किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों के आत्महत्या में 2 फीसदी बढ़ोतरी हुई। 42 प्रतिशत बढ़ी किसानों की आत्महत्या की दर एनसीआरबी के आंकड़ों के मुताबिक, 12,602 लोगों में 8,007 किसान थे जबकि 4,595 खेती से जुड़े मजदूर थे। साल 2014 में आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या 5,650 और खेती से जुड़े मजदूरों की संख्या 6,710 थी। किसानों की आत्महत्या के मामले में 2014 के मुकाबले 2015 में लगभग 42 फीसदी की बढ़ोतरी हुई। महाराष्ट्र में सब से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की। किसानों के आत्महत्या के मामले में सब से बुरी हालात महाराष्ट्र की है। सूखे की वजह से साल 2014 और 2015 खेती के लिए बेहद खराब साबित हुआ। इसका सबसे ज्यादा असर महाराष्ट्र में दिखा। इन मौतों में करीब 87.5 फीसदी केवल सात राज्यों में ही हुई हैं। आत्महत्या के बढ़ते आंकड़े सुझाते हैं कि साल 2015 में महारष्ट्र में 4,291 किसानों ने आत्महत्या की। किसानों के आत्महत्या के मामले में महाराष्ट्र के बाद कर्नाटक का नंबर आता है। कर्नाटक में साल 2015 में 1,569 किसानों ने आत्महत्या कर ली। तेलंगाना (1400), मध्य प्रदेश (1290), छत्तीसगढ़ (954), आंध्र प्रदेश (916) और तमिलनाडु (606) भी इसमें शामिल है।[20]

कर्ज और आर्थिक तौर पर तंगहाली आत्महत्या के प्रमुख कारण है जिसकी वजह से सबसे अधिक आत्महत्या हुई। एनसीआरबी के रिपोर्ट के मुताबिक किसानों और खेतों में काम करने वाले मजदूरों की आत्महत्या का कारण कर्ज, कंगाली, और खेती से जुड़ी दिक्कतें हैं। 'किसानों की आत्महत्या के आंकड़ों पर गहराई से काम करने वाले अर्थशास्त्री प्रोफेसर के. नागराज कहते हैं कि इन आकड़ों को लेकर कहीं से भी आश्वस्त होने की कोई गुंजाइश नहीं है और न हीं इन आकड़ों पर खुद अपनी पीठ ही थपथपाई जा सकती है। 1990 के

दशक के उत्तरार्ध में जो सिलसिला शुरू हुआ था, 2002 के बाद और बदतर हो गया। दुखद सच्चाई यह है कि तेज़ी से घटती कृषक आबादी के भीतर किसान बड़ी संख्या में अब भी आत्महत्याएं कर रहे हैं।'[21] एनसीआरबी किसानों की आत्महत्या से संबन्धित आंकड़ों को 1995 के बाद से एक स्वतंत्र आंकड़े के रूप में दर्ज करने लगा। वर्ष 1997 सबसे विश्वसनीय आधार वर्ष है क्योंकि सभी राज्यों ने क्रमवार ढंग से किसानों के आत्महत्या से जुड़े आंकड़ों को उपलब्ध कराया था। आत्महत्या के कारणों पर विचार करते हुये यह सामने आता है कि सभी कारणों का एक समुच्चय है खेती की बर्बादी, जिसने किसान को आत्महंता बना दिया। 'डॉ नागराज बार-बार बताते हैं कि आत्महत्याएँ ऐसे क्षेत्रों में केन्द्रित दिखाई देती है जहां कृषि का बड़े पैमाने पर व्यवसायीकरण हुआ है और जहां किसान कर्ज़ के बोझ तले सबसे अधिक दबे हुए हैं। नकदी फसल उगाने वाले किसान खाद्य फसल उगाने वाले किसानों की तुलना में कही अधिक संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं। फिर भी संकट के मूल बुनियादी कारण अब तक अछूते ही हैं, जिनमे प्रमुख है:

- खेती को लौटने वाला कृषि के व्यवसायीकरण की प्रक्रिया
- कृषि क्षेत्र में निवेश में भारी गिरावट
- खेती में काम आने वाले सामानों की आसमान छूती कीमतों के समय में बैंक कर्ज़ की वापसी
- खेती कि लागत में विस्फोटक वृद्धि और इसके साथ ही
- खेती से होने वाली आय में भारी कमी

इससे जुड़े सभी जोखिमों को जानते हुए भी खाद्य फसल की खेती की ओर लाखों किसानों का स्थानांतरण, कृषि के हर बड़े क्षेत्र विशेष रूप से बीज पर बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कब्जा, बढ़ता जल संकट और संसाधनों के निजीकरण की ओर उठाए गए कदम। इस संकट के सभी मूल कारणों को दूर किए बगैर, सरकार सिर्फ एक कर्ज़ माफी के सहारे ही संकट को समाप्त करने कि कोशिश कर रही थी'।[22]

देश के और राज्यों में जहां आत्महत्या नहीं हो रही है वहाँ ऐसा नहीं है कि किसान खेती से मालामाल हो रहे हैं, बल्कि वहाँ भी किसान की तस्वीर धीरे-धीरे भयावह होती जा रही हैं। बिहार प्रदेश जहां आमतौर पर पिछले 20 वर्षों के दौरान किसान के आत्महत्या की खबर राष्ट्रीय समाचार के रूप में नहीं आई होंगी, वहाँ भी अब किसान आत्महत्या की अनुगूँज सुनाई दे रही है हैं। वर्ष 2015 के मई महीने की अलग-अलग

तारीखों में पटना के एक किसान और गया के दो किसानों ने कमजोर पैदावार की वजह से आत्महत्या कर ली। यहाँ के किसान भी दूसरे राज्यों के किसानों की तरह ही मौसम की मार, सरकारी उदासीनता, नीतिगत अनदेखी, ज़मींदारों के शोषण व लालफ़ीताशाही के चंगुल में बुरी तरह फंसा हुआ है। परंतु यह और बात है कि बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसान खेती-किसानी में असफल होने के बाद आत्महत्या कम करते, सरकार के खिलाफ विरोध प्रदर्शन और एकजुट हो सड़क पर नहीं उतरते बल्कि वह धीरे से समान की एक गठरी बांध कर पंजाब, हरियाणा, दिल्ली-मुंबई की राह पकड लेते है और देश में मजदूरी के मानव-संसाधन को कम मजदूरी में पूरा करने लगते है।[23]

आज किसान इन अहितकारी नीतियों के खिलाफ जोरदार तरीके से आन्दोलन कर रहा है और खुद को संगठित भी कर रहा है। 1990 के बाद एक दौर ऐसा भी आया था जब किसान आन्दोलन लगभग समाप्तप्राय हो गए थे, लेकिन 2005 के बाद से किसान अपने मुद्दे को लेकर सड़कों पर उतर रहा है और अपनी मांगों के साथ आन्दोलन कर रहा है। वर्तमान दौर में किसान देख रहा है कि वक़्त बड़ी तेज़ी से बदल रहा है, खेती-किसानी का स्वरूप बदल रहा है, समस्याएँ बदल रही है, उनके स्वभाव बदल रहे है। एक समय में भारतीय खेती मौसम और जलवायु पर निर्भर थी। 1970 के दशक में हरित क्रांति ने खेती के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन किया, जिसकी वजह से बड़े पैमाने पर देश के कुछ हिस्सों के खेती-किसानी में आत्मनिर्भरता और समृद्धि भी आई। हरित क्रांति से महंगे बीजों, खाद एवं कीटनाशकों पर निर्भरता बढ़ी लेकिन भारतीय किसान खेती पर इस बोझ को लंबे समय तक उठा नहीं पाया। अधिकाधिक उत्पादन के फेर में खेती पर खर्च बढ़ता गया और लागत में मुनाफा न के बराबर होने से किसान कर्ज़ के मकड़जाल में फँसता गया और आज की तारीख में खेती घाटे का सौदा बन गई है और खेती-किसानी से जुड़े अधिकतर जनसंख्या इस पेशे को घाटे का सौदा होने की वजह से छोड़ देना चाहती है।

आज कृषि पर पर्यावरण, आर्थिक, ढांचागत और नीतिगत संकट है, 'सांय-सांय बेढंगी बयार आडी-तिरछी बहे जा रही है, जैसे एक साथ-पुरवैया-पछिया, उत्रंगा-दखिनाहा चरों हो. कोई अनुशासन् नहीं....गर्म इतनी, जैसे किसी भट्टी से निकलकर आ रही हो. भादों महीने में यह हाल! इस साल फिर सुखद तय है. हवा के शोर में उनके बेटों के प्रस्ताव चीखते-से उभरने लगें हैं मगज में. अब खेती बाड़ी में हम छोटे किसानों के लिए कुछ नहीं रखा है बाऊ....'[24] । इस चौतरफा संकट से सत्ता में बैठे लोग आँख बंद

किए हुये है। इस संकट से उबरने के लिए किसान विरोधी नीतियों को बदलने की मांग कर रहे हैं। कृषि-वैज्ञानिक निरंतर इस बात को रख रहे है की जी.एम. बीज पर आधारित खेती हमारे परंपरागत खेती के स्वरूप को तहस-नहस कर देगी और इसका सीधा लाभ कुछ कॉर्पोरेट घराने और बाज़ार को मिलेगा और किसानों के हाथ में कुछ नहीं आने वाला। इस संबंध में एकदम हालिया घटना बिहार के मक्का किसान की है जिन्होंने बाज़ार से बीज़ लिए लेकिन मक्के की बालियों में दाने ही नहीं आए[25] और किसान ने घर में रखे कीटनाशक को खा आत्महत्या कर ली।

किसानी से जुड़े मसलों में जो जरूरी बात है, वह है किसानी के ढांचागत समाधान की न कि किसी फौरी राहत की। इसी संबंध में किसान अब फौरी राहतों के बजाए इसके बुनियादी ढांचे में बदलाव की बात कह रहे है। किसान आंदोलन का स्वरूप और चरित्र इसी सवाल के साथ बदल रहा है। नए दौर के आन्दोलन, औपनिवेशिक काल के किसान विद्रोहों से और स्वतंत्रता के बाद के 70 और 80 के दशक के किसान आंदोलनों से अलग है। आज का किसान आंदोलन उसके अधिकार का आंदोलन है। इसके पूर्व में जो आंदोलन हुये वह अपने दौर के सवालों के साथ थे जिसको लेकर वह आंदोलन लड़े गए थे। अंग्रेजी राज के दौरान हुए किसान आंदोलन मूलतः किसान विद्रोह थे जो औपनिवेशिक राज द्वारा स्थापित शोषक कृषि व्यवस्था के विरुद्ध थे। मोपला विद्रोह, चंपारण सत्याग्रह, बारदोली सत्याग्रह और तेभागा आंदोलन, नक्सलबाड़ी आंदोलन जैसे किसान आंदोलनों ने कृषि व्यवस्था के सबसे शोषित वर्ग के न्यूनतम अधिकार की आवाज उठाई थी। अन्यायपूर्ण लगान, नील की बंधुआ किसानी और बटाईंदार को फसल का कम से कम एक तिहाई हिस्सा देने की मांग पर चले आंदोलन किसान के राजनैतिक पहचान के आंदोलन रहे है।

अब कर्ज़ माफी का सवाल, कर्ज़ मुक्ति के सवाल में बदल गया है। फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य की मांग सुनिश्चित आमदनी में जो लागत से डेढ़ गुना अधिक हो, किसान इन्हे अपने अधिकार के बतौर मांग रहा है। 'डबलिंग फार्मर्स इन्कम' (किसानों की आय दोगुनी करने) पर अशोक दलवाई की अध्यक्षता वाली समिति ने अपनी रिपोर्ट में अनुमान लगाया था कि वर्ष 2011 में गैर-कृषि व्यवसाय में लगे एक व्यक्ति को एक किसान कि तुलना में 3.1 गुना अधिक लाभ हुआ था। एक व्यक्ति जो कृषि मजदूर के रूप में कार्यरत था उसकी आय एक किसान कि तुलना में 60 प्रतिशत कम थी'[26]। यह स्पष्ट दिखाई देता है कि किसान आर्थिक रूप से देश की प्रगति में मुख्य वाहक, उत्पादक होने के

बावजूद काफी पीछे चले गए है। उनकी बदहाली देश के लिए चिंताजनक है। इस स्थिति से निकलने के लिए वर्तमान दौर में किसान आंदोलन करवट भी ले रहा है और 21वीं सदी का किसान आंदोलन स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के किसान आंदोलनों से काफी अलग है। 'किसान की नई परिभाषा का विस्तार हो रहा है। इस नई परिभाषा में किसान का मतलब सिर्फ बड़ा भूस्वामी नहीं बल्कि मंझौला और छोटा किसान भी है, ठेके पर किसानी करने वाले बटाईदार और खेतिहर मजदूर भी है। ज़मीन जोतने वाले के साथ पशुपालन, मुर्गीपालन और मछली पालन करने वाले को भी किसान के दायरे के भीतर शामिल किया जा रहा है।'[27] यह जरूरी है कि बदलते समय के साथ किसान आंदोलन को भी बदला जाए और पूंजी के विकल साम्राज्य से लड़ने के लिए बड़ी गोलबंदी की भी जरूरत है। इसलिए उन सभी समूहों को भी किसान आंदोलन के साथ जोड़ना अनिवार्य हो जाता है जो इस पूंजीवादी विकास में एकदम किनारे कर दिये गए है। 'पहली बार किसान आंदोलन आदिवासी और दलित किसान को भी किसान की तरह स्वीकार करने को तैयार है। खेती में दो-तिहाई मेहनत करने वाली औरतों को अब तक किसान की परिभाषा से बाहर रखा गया है... किसान की परिभाषा का यह विस्तार जरूरी था'[28]

किसान आंदोलन में नई ऊर्जा के लिए यह बेहद जरूरी है कि उन सभी समूहों को शामिल किया जाए जो किसानी पर आश्रित है, साथ ही खेती-किसानी के साथ देखते है कि ग्रामीण इलाकों में बहुत से समुदाय-वर्ग के जीवन का एकमात्र आधार उनके आसपास हो रही किसानी ही है, जिसमें वह समुदाय-वर्ग खेती-किसानी से जुड़े हुये उत्पादों को निर्मित करता है और खेती-किसानी में अप्रत्यक्ष ढंग से वह स्वयं को जोड़ कर रखता है। इसी तर्ज़ पर नए किसान आंदोलन के वैचारिक सरोकार और मुद्दे भी परिभाषित हो रहे है। आज़ादी के बाद के किसान आंदोलन के मुद्दे जमींदार बनाम खेतिहर मजदूर के बीच हुये, समकालीन दौर का किसान आंदोलन वैसा ही नहीं हो सकता है। आज पूंजीवाद ने नए तरीके अख़्तियार कर लिए है, एक किसान को आर्थिक, सामाजिक के साथ-साथ पर्यावरण के मोर्चे पर भी लड़ना होता है। पारिस्थिकी का संकट उसके लिए एक नए तरह का संकट है। हरित क्रांति के बाद पैदा हुआ संकट है यह। 'एक समय में हरित क्रांति की आधुनिक खेती को भारतीय कृषि के लिए रामबाण माना जाता था। लेकिन आज वही हरित क्रांति पर्यावरण के एक संकट के रूप में दुःस्वप्न की शक्ल ले चुकी है। पंजाब इसका ज्वलंत उदाहरण है। हरित क्रांति की चमक जल्द ही फीकी पड़ गई, क्योंकि यह अत्यधिक संसाधनों के बल पर आधारित थी। खाद और कीटनाशक दवाइयों की अंतहीन जरूरत को

हमारे किसान पूरा नहीं कर सकते, न ही हमारी मिट्टी इसे बर्दाश्त कर पाई। जिस हरित क्रांति को देश के सामने कृषि-मॉडल के तौर पर पेश किया जाता था, आज उसके परिणामों के तौर पर भू-जल संकट, जमीन में सेम, भूमि की उर्वरता –शक्ति में गिरावट को झेल रहे है। फिर भी देश भर में हम ऐसी फसलें उगा रहे है जो उस जलवायु के लिए बिलकुल भी मुफीद नहीं है।'[29]

इस संकट में उत्पादन और उत्पादक दोनों गिरफ्त में है। हम खाद्यान के मामले में आत्मनिर्भर हो चुके हैं लेकिन यह आत्मनिर्भरता बेहद असंतुलित है और अंतराष्ट्रीय मानकों के अनुसार काफी कम है। इस असंतुलित आत्मनिर्भरता में भी उत्पादन बढ़ने के बावजूद उत्पादक यानि किसान की हालत दिनों-दिन बिगड़ती जा रही है, जो सबसे चिंता का विषय है। किसानी आज घाटे का कार्य-व्यापार बनकर रह गई है जिसको करते हुये किसान केवल अपनी लागत निकाल पा रहा है और अगर फसल खराब हो गई या अकाल-सूखा या बाढ़ की स्थिति में यह खर्च भी पूरा नहीं हो पाता है और किसान कर्ज़ के जंजाल में फँसता चला जाता है। इस जंजाल की अंतिम परिणति उसे आत्महत्या के रूप में प्राप्त होती है या फिर जमीन के निकल जाने की कीमत के रूप में चुकानी पड़ती है। आज की खेती-किसानी का संकट केवल फसल के मूल्य और फसल के खर्चे तक सीमित रहती है लेकिन इस संकट का विस्तार दूसरे पहलुओं तक भी है शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार आदि दूसरे सवाल किसान के संकट से गायब रहते है। आज के किसान आंदोलन में इन सवालों को प्रमुखता से उठाने की जरूरत है जिसके जरिये किसान के जीवन शैली को भी सुधारा जा सके और इसके लिए किसान को पैकेज की नहीं सही नीति की जरुरत है.

ख) <u>आंदोलन की नब्ज़</u>

चूँकि कृषि के जरिये आर्थिक उत्पादन किसी भी मानव समूह का मौलिक क्रिया कलाप है, इसलिए उत्पादन का ढंग, उत्पादन की शक्तियां और उत्पादन का सामाजिक सम्बन्ध उस मानव समूह की सामाजिक संरचना, मनोवैज्ञानिक प्रवृति तथा विचारधारा के निर्माणों में निर्धारक भूमिका अदा करता है। ग्रामीण समाज प्रबल रूप से कृषि पर आधारित है। ग्रामीण कृषि नगरीय कृषि-उद्योग से इस बात में बिलकुल ही भिन्न है कि इसमें समूची कार्य-प्रणाली प्रकृति से मनुष्य द्वारा सीधे रूप से अन्न-सम्पति प्राप्त करने पर आधारित है।

ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि उत्पादन का मौलिक साधन है। भूमि प्रकृति का एक भाग है, यद्यपि मानव-श्रम के द्वारा ही वह भूमि कृषि योग्य बनाई जाती है। भूमि से ही ग्रामीण जन अपनी प्रविधि अथवा तकनीकी तथा श्रमशक्ति द्वारा अनेकानेक विभिन्न प्रकार के कृषि पदार्थ को उत्पन्न करते हैं। ग्रामीण-समाज में मौजूद आर्थिक जीवन के अध्ययन के सम्बन्ध में यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि भूमि अथवा उन साम्पत्तिक संबंधों को, जिनके क्षेत्र में कृषि-उत्पादन होता है, भली भांति समझ लिया जाए।

यद्यपि तकनीक निश्चित रूप से प्रौद्योगिक-आर्थिक श्रम विभाजन और उसके परिणामस्वरुप विशिष्ट श्रमिक-समूहों को निर्धारित करती है, तथापि इतिहास यह बतलाता है कि यह सर्वदा एक से ही सम्पति-सम्बन्ध नहीं उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के तौर पर हम देखते है कि दासों तथा सामंती समाजों में विद्यमान विभिन्न प्रकार के भूमि-संबंधों के ढांचे में संचालित कृषि का तकनीकी का आधार हल ही था।

भूमि संबंधों का स्वरुप कृषि में लगे हुए विभिन्न सामजिक आर्थिक समूहों का सम्पूर्ण कृषि धन में भाग निर्धारित करता है। उदहारण के लिए जमीदारी क्षेत्रों में कृषि करने वाले जोतदार की अपेक्षा जमींदार कृषि आय का एक बहुत बड़ा भाग ले लेता है। जमींदार की अत्यंत विशाल आय तथा कृषि करने वाले जोतदार की अत्यंत ही कम आय के मध्य जो भयंकर विषमता है वह मौलिक रूप से जमींदार के भूमि-संबंधों के कारण हैं। इसके अतिरिक्त विशिष्ट प्रकार के भूमि संबंधों के आधार पर निर्मित कृषि अर्थव्यवस्था के पीछे अपना विशेष तर्क तथा विकास का नियम होता है। इसलिए हम देखते हैं कि जमींदारी क्षेत्रों में कृषि प्रधान आर्थिक विकास की यह साधारण प्रकृति होती है कि वह इस आर्थिक वैषम्य को आधिकारिक रूप में बढावा देते है। अनेक प्रकार के सुधार लगातार होने पर भी कृषक-जोतदार की निर्धनता बढती ही चली जा रही है।

जमींदारी क्षेत्रों में ग्रामीण समाज मुख्य रूप से ऐसे समूहों में विभाजित होता है, जैसे जमींदार, कृषि में भाग नहीं लेने वाले जोतदार। रैयतबाड़ी क्षेत्र में विभिन्न स्तर के भूस्वामी कृषक तथा भूमि विहीन कृषक श्रमिक होते हैं। बड़े पैमाने पर पूंजीवादी कृषि में ऐसे समूह होते हैं जैसे कृषि- पूंजीपति, फ़ार्म-मैनेजर, यांत्रिक, वेतनभोगी श्रमिक तथा अन्य समूह।

भूमि संबंधों का वह स्वरुप, जो कृषि में लगे हुए विभिन्न भागों का भौतिक-संपत्ति में से अंश निर्धारित करता है, इन्ही का ग्रामीण समाज के सामाजिक, राजनीतिक तथा

सांस्कृतिक जीवन में क्रमशः महत्त्व भी निर्धारित करता है। धनिक जमींदारों अथवा पूंजीपति भूस्वामियों की श्रेणी अपने धन के कारण अवकाश तथा उन भौतिक साधनों को प्राप्त कर लेती है, जो ग्रामीण समाज के जीवन के सभी क्षेत्रों में उसे आधिपत्य प्रदान करती है। कृषि करने वाले निर्धन जोतदार अथवा भू-विहीन का इसके निर्माण में कुछ भी हाथ में नहीं रहता। 'इंद्रजाल' कहानी में भूमि को लेकर जो हकीकत बयाँ हैं वह सच्चाई से अवगत कराता है... 'का है ये?' 'जमीन , मई जमीन. दो बिघा भुइंया, पुरे चालीस कट्ठे माई!' ये कागद जमीन है? बेटे के सामने साग और सकरकंद भरा कटोरा परोसते माई ने हैरत जाहिर की. हंसी आ गई उसे माई के भोलेपन पर. 'तू रही मूरख की मूरख अरे ये सरकारी हुकम है. नाम चढ़ा है इस पर मेरा . मालिकाना सबूत है ये माई' तो ई सबूत से जमीन तोरी हो जाएगी? हो जाएगी क्या? हो गई. सैकड़ों लोगन, ज़र-जमींदार के आँख साझ में बीडीओ हाकिम पर्चा बाटिन है' माई का शक उसके उछाह पर वार कर रहा था, चिढ होने लगी उसे.

पानी का लोटा बढाते माई मुस्कराई "दसियों हाकिम और हजारों लोगन के सामने तोरे बाबू को भी पर्चा थमाए थे, सरबोदैयन. सैकडन को कागद थमाहीन थे भूईंया की जय परकाश महराज! है केहू के पास भूईंया? पूछो? तोरे पास भी होती, मालिकाना मिला था तोरे बाबु को! है का?"[30]

भूमि संबंधों का स्वरुप कृषि क्षेत्रों में सामजिक स्थायित्व तथा सामंजस्य का परिणाम भी निश्चित करता है। उदाहरणस्वरुप, जमींदारी क्षेत्र में जमींदार के धन तथा कृषि करने वाले जोतदार की अत्यंत निर्धनता के मध्य विशाल विषमता होने के कारण दोनों श्रेणियों में कटु संघर्ष की स्थायी दशा विद्यमान रहेगी। यदि निर्धनता असहनीय हो जाए तो वह संघर्ष ऐसा भी रूप ग्रहण कर लेगा कि जो वर्तमान ग्रामीण समाज की स्थिरता को ही नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। यही तेभागा, तेलंगाना और नक्सलबाड़ी आन्दोलन में हुआ था। इस समय का भारत द्रुत गति से ऐसे ही संघर्षों का रंगमंच बनता जा रहा है, जहां नए दौर के किसान आन्दोलन हो रहे हैं।[31]

नक्सलबाड़ी आंदोलन के पचास साल पूरे हो गए हैं। लेकिन वह तमाम वजहें अब भी जस की तस हैं जिनके चलते 25 मई, 1967 को यहां सशस्त्र आंदोलन की शुरूआत हुई थी। किसानों को उनका हक दिलाने के लिए जिस नक्सल आंदोलन की शुरूआत हुई थी, अब यहां उसके निशान तक नहीं मिलते। इस अनाम-से कस्बे से पचास साल पहले एक

ऐसी क्रांति का जन्म हुआ था जो अपने मकसद में भले नाकाम रही, लेकिन उसने आगे चल कर देश की राजनीति की दशा-दिशा बदल दी। राज्य सरकार की बेरुखी के चलते विकास अब भी यहां से कोसों दूर है। कोई सात साल पहले नक्सल नेता कानू सान्याल की मौत के बाद अब गरीबों और वंचितों के हक में कोई आवाज नहीं उठाता। बचे-खुचे नक्सली कई गुटों में बिखरे हुये हैं। नक्सल आंदोलन की बरसी पर शहीदों की वेदी पर माला चढ़ा कर ही वह इस आंदोलन की याद में आंसू बहा लेते हैं। यह भी एक दिलचस्प संयोग है कि नक्सल आंदोलन का जन्म नक्सलबाड़ी यानी नक्सलियों के घर से शुरू हुआ। बांग्ला में घर को 'बाड़ी' कहते हैं। नक्सलबाड़ी यानी नक्सलियों का घर जिन्होंने सामंती तत्वों के खिलाफ आमजन का विद्रोह खड़ा किया था।

आंदोलन में शामिल रहे मुजीबुर रहमान का परिवार अब मोमो की दुकान चलाता है। वह कहते हैं, "मेरे सिर पर 50 हजार का इनाम था। लेकिन पुलिस या सीआरपीएफ के जवान मुझे कभी छू तक नहीं सके।" आंदोलन के शीर्ष नेता चारू मजुमदार के पुत्र अभिजीत मजुमदार बताते हैं, "नक्सलबाड़ी क्रांति भूमिहीनों के हितों की रक्षा के लिए हुई थी, किसी खास जाति धर्म या तबके के हित में नहीं।"[32] कुंदन मूर्मू किशोरावस्था में ही नक्सल आंदोलन में शामिल हो गए थे। वह भी आंदोलन के हश्र से हताश हैं। मूर्मू कहते हैं, "नक्सलबाड़ी क्रांति नहीं होती तो देश में अब भी जमींदारी प्रथा कायम रहती। लेकिन यहां अब भी किसानों को उनका हक नहीं मिला है।"[33] वह कहते हैं कि अब इस लड़ाई का स्वरूप बदल गया है और यह उस समय के मुकाबले ज्यादा कठिन है। लेकिन सरकार और राजनीतिक पार्टियां चुप्पी साधे बैठी हैं।

नक्सल आंदोलन को पूरी तरह समझने के लिए 1940 के दशक के किसानों के तेलंगाना और तेभागा आंदोलन को समझना जरूरी है। तब उन आंदोलनों ने पूरे देश को हिला दिया था। तेलंगाना आंदोलन आंध्र प्रदेश में किसानों और मजदूरों की पहली क्रांति थी। उसी समय बंगाल के किसानों ने अपने हक के लिए तेभागा आंदोलन शुरू किया था। उसके बाद से ही राज्य के चाय बागान इलाकों में मजदूर असंतोष बढ़ रहा था। रहमान कहते हैं, "तब चाय मजदूर यूनियन ने ही नक्सल आंदोलन की नींव डाली थी"। अभिजीत मजुमदार कहते हैं, "मेरे पिता का मानना था कि संघर्ष को प्रभावी बनाने के लिए किसानों का हथियारबंद होना जरूरी है। वह कहते थे कि धनी किसानों के विश्वासघात की वजह से ही तेभागा आंदोलन नाकाम हो गया था।"[34]

दरअसल, किसानों और खेत मजदूरों में असंतोष तो बहुत पहले से सुलग रहा था। मार्च, 1967 से ही नक्सलियों ने एकजुट होकर बड़े जमींदारों के खेतों व गोदामों पर कब्जा करने और उनका अनाज लूट कर गरीबों में बांटने का सिलसिला शुरू कर दिया था। इसके बाद इलाके के लोगों पर पुलिसिया अत्याचार शुरू हो गया। इस आग में घी डालने का काम किया पुलिस की गोलियों ने। पुलिस वाले खेतों में काम करने वालों को जबरन गिरफ्तार करने लगे।

एक दिन गांव वालों ने एकजुट होकर पुलिस कार्रवाई का विरोध करने का फैसला किया। पुलिस टीम के पहुंचने पर गांव वालों के साथ कहासुनी के बीच ही किसी ने तीर मार कर पुलिस इंस्पेक्टर सोनम वांग्दी की हत्या कर दी। उस दिन तो पुलिस वाले वहां से भाग गए। लेकिन अगले दिन यानी 25 मई को भारी तादाद में वह गांव आए। गांव वाले भी उनसे मुकाबले के लिए अपने हाथों में भाले, फावड़े व कुदाल लेकर जम गए। पुलिस ने गांव वालों पर फायरिंग की जिसमें नौ महिलाओं व दो बच्चों की मौत हो गई। इसके बाद ही यह आंदोलन हिंसक हो उठा। जुलाई में मौके पर पहुंची तत्कालीन संयुक्त मोर्चा सरकार के मंत्रियों की एक टीम ने इलाके में भूमि सुधार के उपाय शुरू करने का एलान किया। इसके बाद नेताओं से हथियार डालने को कहा गया। अगस्त के आखिर तक एक हजार लोग गिरफ्तार हो गए और शीर्ष नेता भूमिगत हो गए।

चारू मजुमदार के साथ मिल कर नक्सल आंदोलन के जनक रहे कानू सान्याल अपनी मौत से कोई दो दशक पहले से ही नक्सली आंदोलन के भटकाव से बेहद दुखी थे। जीवन के आखिरी वर्षों में तो वह अपने बूढ़े व कमजोर कंधों के सहारे एक हारी हुई लड़ाई लड़ रहे थे। बावजूद इसके उन्होंने उम्मीद नहीं छोड़ी थी। एक बार उन्होंने एक संवाददाता से कहा था कि नक्सल आंदोलन अपने मूल उद्देश्यों से भटक कर आंतकवाद की राह पर चल पड़ा था। यही इसके नाकाम रहने की प्रमुख वजह थी। मजुमदार, सान्याल और उनके जैसे नेताओं ने ही रातों-रात नक्सलबाड़ी को किसान आंदोलन का पर्याय बना दिया था। लेकिन मूल मकसद से भटकने की वजह से इसकी असमय ही मौत हो गई थी।[35]

सातवें दशक का नक्सलबाड़ी आंदोलन आज़ादी के बाद हुये किसान आंदोलन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। व्यवस्था परिवर्तन की मांग के साथ शुरू हुये नक्सलबाड़ी के संघर्षों ने भारतीय शासन् व्यवस्था को सोचने पर मजबूर कर दिया था। इस संबंध में आलोचक देवेंद्र चौबे लिखते है '1967 ई. में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी में जमींदारो और

किसानों-मजदूरों के साथ हुये संघर्षों ने भारतीय समाज, राजनीति और गाँव की जिंदगी पर गहरा असर डाला। इन संघर्षों एवं घटनाओं ने भारतीय समाज की वर्ण तथा जाति केन्द्रित व्यवस्था को झकझोर कर रख दिया। सातवें दशक में गांवों में बड़े पैमाने पर कृषि संबंधी संघर्ष हुये जिसके केंद्र में दलित, सीमांत किसान और मजदूर थे।'[36] आज नक्सलबाड़ी के 50 साल हो गए हैं। इस अर्धशताब्दी के अवसर पर भी हम देखते हैं कि कृषि संकट खत्म होने का नाम नहीं ले रहा है। लाखों किसान आत्महत्या कर चुके है और किसानों की आत्महत्या का सिलसिला अब भी जारी है। 'पहले सरकार काँग्रेस की थी। आज भाजपा की है और कल किसी और की हो सकती है। देखना यह चाहिए कि क्या एक 'न्यायपूर्ण भारत' की रचना हो रही है? क्या विषमता समाप्त हो रही है? क्या नौकरशाही हाशिये के लोगों के साथ इंसाफ कर रही है?'[37]

समकालीन किसान आंदोलन का प्रमुख पड़ाव है 1990 के बाद हुये आर्थिक बदलाव। विश्व व्यापार संगठन का दबाव और पूंजी के साम्राज्यवादी हमले को भूमंडलीकरण के रूप में तत्कालीन काँग्रेस की सरकार ने स्वीकार किया। जिसके तहत सब्सिडी में कटौती और गरीबी निवारण के कार्यक्रमों का लगभग खत्म किया जाना, निजीकरण, विनिमय और नियंत्रण का समाप्त होते जाना, वित्तीय उदारीकरण, व्यापार का उदारीकरण और विदेशी पूंजी के आने के रास्ते को खोल दिया गया। इस आर्थिक बदलाव के बाद भारतीय किसान के कमर की हड्डी टूट गई। यह अनायास ही नहीं हुआ कि 1990 के बाद किसान आत्महत्या की घटनाए सुनाई देने लगी। आज़ादी के पहले जहां किसान संगठित होकर संघर्ष के लिए आगे आए थे और आज़ादी के बाद भी हमने देखा की तेभागा से लेकर बंगाल के नक्सलबाड़ी तक संघर्ष जहां किसान सामंती और जमींदारी व्यवस्था के खिलाफ खड़े हुये थे, लेकिन हम 1990 के बाद के समय में देखते हैं कि किसान संगठित होकर लड़ने के बजाए आत्महत्या या फिर मजदूरी की ओर बढ़ें। 'जमीन' उपन्यास में इस तरह के विद्रोह का जिक्र है कि कैसे गाँव में अब लोग पुरानी जंजीरों को तोड़ रहें हैं... 'इधर कई सालों से बाबू साहबों के खिलाफ, रयानों में (छोटी, मंझोली, पिछड़ी और हरिजन जाति) विद्रोह की आग सुलगती रही है. गनीमत है कि सब एक नहीं हो पा रहें हैं. जिस दिन भी वे सब एक हो जायेंगे और छोटे-छोटे मतभेदों को भुलाकर अपने-अपने घरों से निकल पड़ेंगे, उस दिन गाँव में खून ही खून दिखाई देगा. तब कोई बख्शा नहीं जायेगा. चाहे रमन बाबू हों या फिर जमुना बाबू हों. सबसे ज्यादा जन-धन का नुक्सान बाबू साहेब लोगों का हीं होगा'[38]

'आज़ादी के पश्चात किसानों की आर्थिक स्थिति में गिरावट देखी गई थी। इसके पीछे मूल कारण तीन दिखाई देते है। पहला, कृषि और खेती की फसलों के दामों में आई हुई गिरावट। दूसरा, खाद्यायन फसलों को बढ़ावा और उसके घाटे को न सह पाने के कारण किसानों का असंतोष और आत्महत्या को ओर प्रवृत होना। जैसे- महाराष्ट्र में गेहूं की जगह कपास को बढ़ावा और लागत दर में वृद्धि। तीसरा, आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि और किसानों की सरकारी मशीनरी द्वारा उपेक्षा। इसके साथ ही बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा सेज़ (SEZ) के लिए सिंचित क्षेत्र की जमीन का अधिग्रहण। यह लोक कल्याणकारी राज्य के स्वरूप में आए हुये बदलाव एवं कॉर्पोरेट स्टेट की नीतियों के परिणामस्वरूप फलीभूत हुआ।'[39]

देश के कई हिस्सों में भूमि अधिग्रहण के खिलाफ पिछले एक दशक से अधिक समय से आंदोलन चल रहे है। परंतु पिछले तीन सालों से कर्ज़ माफी और स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों को लागू कर उसके अनुरूप फसलों का मुनाफा-युक्त दाम की मांग किसान आंदोलन का एक नया दौर है। हमने 2014 के लोकसभा चुनाव के वक़्त देखा कि उस वक़्त बीजेपी के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार नरेंद्र मोदी ने अपने चुनावी रैलियों में किसान हित के समर्थन में स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने का वादा किया था और यह बीजेपी के 2014 के चुनावी घोषणापात्र में भी मौजूद है।[40]

आज़ादी के बाद विकास का जो रूप सामने आया उसमे ही अनेक खामियाँ रही हैं। नदियों के प्रवाह को रोककर बांधों का निर्माण, सड़क का विकास, कल-कारखानों के नाम पर किसान के ज़मीन को बगैर उचित मुआवजे के ही अधिगृहीत किया गया। 1960 के दशक से लेकर सन् 1990 तक भारतीय राजनीति विकास के इसी एजेंडे के साथ रही। फल्स्वरूप, किसान के अंदर असंतोष पलता-बढ़ता रहा। नक्सलबाड़ी आंदोलन में जहां भूमिहीन खेतिहर वर्ग के साथ-साथ गरीब, मजदूर और युवा वर्ग शामिल हुआ। इस संघर्ष को तात्कालिक तौर पर प्रभावित करने के लिए विनोबा भावे का भूदान आंदोलन और गरीबी हटाओ जैसे कार्यक्रम सामने लाये गए। नक्सलबाड़ी के बाद विभिन राज्यों में किसान और उससे जुड़ी सभाओं का गठन हुआ और कई राजनीतिक पार्टियों ने किसान संबंधी संगठन का निर्माण किया। इन राजनीतिक संगठनों का महत्वपूर्ण काम होता था कि वह किसान के मुद्दे को प्रमुखता से सामने ले आयें, जैसे महाराष्ट्र में शरद जोशी के नेतृत्व में 'शेतकारी संगठन' और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में महेंद्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में

'किसान संगठन' का निर्माण हुआ। परंतु इन संगठनो ने भी नए आर्थिक नीतियों को सही से नहीं परखा जिसका परिणाम भयावह हुआ।

हरित क्रांति, भूदान आंदोलन, गरीबी हटाओ आदि परियोजनाओं के बाद भी किसान के हालत में सुधार नहीं हुआ; समस्याएँ पहले जमीदारी, सामंती और जातीय दंश की थी तो वह 1990 के बाद पूंजी, भूमंडलीकरण और कॉर्पोरेट स्टेट के रूप में हमारे सामने आ गई है। इन स्थितियों को भापने की कोशिश शेतकारी संगठन या महेंद्र सिंह टिकैत के किसान संगठन ने वृहद तौर पर नहीं की। सरकारी चर्चे में यह किसान संगठन महत्वपूर्ण बने रहे परंतु किसान समुदाय के बुनियादी सुविधाओं और सुधार हेतु इन्होने कोई बड़ी पहलकदमी नहीं की। इस तरह के किसान संगठन को आकलन करते हुये वामपंथी नेतृत्वकर्ता विनोद मिश्र लिखते है 'भारतीय कृषि आज एक नई किस्म के संकट का सामना कर रही है। यह संकट हरित क्रांति की रणनीतिक संतृप्त स्थिति में पहुँच जाने तथा 'अति उत्पादन' की स्थिति पैदा होने के फलस्वरूप आया है। इस संकट का सीधा परिणाम यह हुआ कि भारत के कुछ खास भागों में फार्मेरो का एक नई किस्म का आन्दोल्न उभरा। खासकर महाराष्ट्र में इस आंदोलन को एक अनुकूल आधार प्राप्त हुआ और साथ-साथ श्री शरद जोशी जैसा शक्तिशाली प्रवक्ता भी मिला। श्री शरद जोशी अपने सैद्धांतिक सूत्रिकरण में ग्रामीण गरीब भारत और समृद्ध शहरी इंडिया के बीच मौजूद अंतर्विरोध को उजागर करते है। वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि किसानों का आर्थिक उत्थान ही उन तमाम बीमारियों की एकमात्र दवा है, जिनका आज हमारा देश सामना कर रहा है। इसके लिए वे कृषि उत्पादों के लाभकारी मूल्य की एकसूत्री मांग पर अपना सारा ज़ोर लगा देते हैं। वे इस बात पर विश्वास नहीं करते कि ग्रामीण आबादी के विभिन्न हिस्सों के बीच किसी बड़ी किस्म के संघर्ष का कोई मुकम्मिल आधार मौजूद है। और कहना न होगा कि किसानों से उनका मतलब सिर्फ धनी व मध्यम फार्मर से है।'[41]

यह सवाल महत्वपूर्ण है कि किसानी के पेशे से जुड़ा हुआ बड़ा तबका खेतिहर मजदूर का है, जो किसान के काम में पीढ़ियों से हाथ बंटाता रहा है। अपने मालिकाने के गुरूर में किसान साथी खेत-मजदूरों को अपने से कमतर समझते है। इसमे जाति, आर्थिक स्थिति और सामाजिक स्थिति भी जुड़ी हुई रहती है। 'इस कारण किसान और खेत मजदूर के बीच टकराव होता है। इन दोनों में एकता बनना मुश्किल होता है और खेती पर ही गुजर-बसर करने वाली आबादी का बड़ा हिस्सा किसान आंदोलन का हिस्सा नहीं बनता।

जब तक किसान अपने साथी मजदूरों को भूमिहीन किसान समझकर उन्हें अपने साथ नहीं मिलाएगे, तब तक किसान आंदोलन के लिए के बडी जमीन नहीं बन सकती है।

शेतकारी संगठन या फिर मध्य मार्गी किसान संगठन आमूल-चूल समस्याओं के बजाए केवल जोतदार किसानों तक ही सीमित रहे। यह अकारण नहीं है की महाराष्ट्र में जहां शेतकरी संगठन कार्यरत है वहाँ सबसे अधिक किसान आत्महत्या हुई और अब भी जारी है। अधिकतर किसान आंदोलन के नेता यही मानते है कि किसानों को प्राप्त होनेवाले किसी भी आर्थिक लाभ का एक हिस्सा स्वयं ही क्रमबद्ध ढंग से मजदूरी की शक्ल में खेतिहर मजदूरों तक पहुँच जाएगा, लेकिन वास्तविक धरातल पर ऐसा होता दिखाई नहीं देता। इसी संदर्भ में हम देखते है 'सामाजिक-आर्थिक विश्लेषक 'सुनील' ने किसान के आशय को स्पष्ट करते हुये किशन पटनायक को उद्धृत किया है। किसान और खेतिहर मजदूर में द्वंद तो है, लेकिन यह बुनियादी द्वंद नहीं है। जो किसान आंदोलन नव-औपनिवेशिक शोषण और आंतरिक उपनिवेश के वैचारिक परिप्रेक्ष्य में चीजों को देखेगा, वह उससे संघर्ष के लिए खेतिहर मजदूरो को अपने साथ लेने का प्रयास करेगा। यदि किसान और खेतिहर मजदूर एक हो गए तो बड़ी ताकत पैदा होगी जो पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, ग्लोबिकरण और सांप्रदायिकता का मुक़ाबला कर सकेगी।'[42]

स्पष्ट है कि किसान आंदोलन के इस दौर में किसान और खेतिहर मजदूर का साथ आना जरूरी है जिसे किसान संगठन आमतौर पर छोड़ देते है। भूमि का मालिक किसान है और जो भूमिहीन है वह खेतिहर मजदूर है लेकिन उनके हित अलग-अल और एक-दूसरे के विरोधी है परन्तु यह सवाल किसान आंदोलन के लिए महत्वपूर्ण है। किसानी के सिकुड़ने से किसान के साथ जो खेतिहर मजदूर है उनकी भी स्थिति बुरी हुई है, उन्हे अब पलायन करके विस्थापित की जिंदगी जीना पड़ता है, बिहार, उत्तर प्रदेश का एक बड़ा तबका जो मजदूरी के लिए दूसरे राज्यों की ओर पलायन करता है, वह इसका बड़ा उदाहरण है। इसको लेकर एक रिपोर्ट में यह लिखा गया है वह ध्यान देने योग्य है- 'यहाँ के किसान भी दूसरे राज्यों के किसानों की तरह मौसम की मार, सरकारी उदासीनता, अनदेखी, जमींदारो के शोषण और लालफ़ीताशाही के सींखचों में बुरी तरह फंसे हुये है। लेकिन वे इसके खिलाफ प्रदर्शन करने के लिए झण्डा लेकर सड़को पर नहीं उतरते, बल्कि समान सिर पर लादकर मजदूरी करने के लिए पंजाब, हरियाणा, मुंबई या दिल्ली की रह पकड़ लेते है।'[43] यहाँ यह समझना जरूरी है की जो किसान या खेतिहर मजदूर मजदूरी

करने के लिए पलायन का रास्ता अपना रहे है, उनकी बिहार जैसे राज्य में एक बड़ी संख्या है। इनमे अधिकतर बटाईदार किसान है 'अनुमानतः 50 फीसदी से अधिक किसान बटैया या लीज पर किसानी करते है, जिनहे कागजात के अभाव की वजह से कोई सरकारी लाभ नहीं मिलता। यह स्थिति देश के दूसरे राज्यों में भी है जहां इस तरह की खेती होती है। सरकारी उदासीनता के अभाव में खेती का यह तरीका भी संकट की ओर बढ़ रहा है'[44] क्योंकि इन किसानों के लिए कोई अलग से कानून नहीं है और इसका फायदा खेत मालिक उठाते हैं, जिनकी ज़मीन है। इसलिए वर्तमान समय में किसान आंदोलन को भी नए कलेवर मे ढालने की ज़रूरत है। इस समय में यह तो जरूरी है ही कि जिन भी लोगो के पास जमीन का कोई टुकड़ा नहीं है उन्हे जमीन दिलाने का भी आंदोलन हो साथ ही खेत मजदूर से लेकर बटाईदार तक को इसमे शामिल किया जाना चाहिए। क्योंकि देश में व्याप्त सर्वव्यापी कृषि संकट और उसके कारण बदलते कृषि परिदृश्य ने इसकी भूमिका तैयार कर दी है। यह कृषि संकट अब तक के कृषि संकटों से कही गहरा और ज्यादा व्यापक है। इस कृषि संकट ने भारतीय कृषि के परिदृश्य को काफी हद तक बदल दिया है। इस बदलाव ने न सिर्फ देश की खेती किसानी को तबाही के रास्ते पर धकेला है बल्कि खेती पर निर्भर पूरे ग्रामीण समाज को अपने आगोश में ले लिया है। सरकार की किसान विरोधी आर्थिक नीतियाँ आज खेती को घाटे का सौदा बना चुकी है। इससे बचने के लिए किसानों के एक बड़े हिस्से ने खेती को बटाईं पर देकर अन्य रोजगार की तरफ रुख किया है। इस तरह कल तक के खेत मजदूर का एक बड़ा हिस्सा छोटा बटाईंदार किसान में बदल चुका है। अपने खुद के पारिवारिक श्रम को लगाकर खेती करने वाले इस बटाईंदार किसान को किसान का दर्जा न मिलने के कारण वह उत्पादन तो करता है पर किसान न होने की वजह से सरकारी सुविधाओं के मिलने से वंचित रह जाता है।

पिछले दशक को देखा जाए तो देश के कई हिस्सों में भूमि अधिग्रहण के खिलाफ सबसे अधिक आंदोलन देखने को मिला। इस संदर्भ में हमने देखा है कि बिहार के बियाडा भूमि आंदोलन का मुद्दा हो, सिंगूर-नंदीग्राम का मसला हो या फिर झारखंड के नगड़ी का आंदोलन हो। किसान भूमि अधिगरण के खिलाफ बहुत ही मजबूती से अपनी लड़ाई लड़े और उसमे उन्हे सफलता भी हासिल हुई। 'बुद्धदेव भट्टाचार्य की वाम मोर्चा सरकार द्वारा सन् 2006 में टाटा की नैनो कार परियोजना के लिए सिंगूर में किए गए हज़ार एकड़ के जमीन के अधिग्रहण को सुप्रीम कोर्ट द्वारा खारिज कर दिया गया है। रांची से करीब 20

किलोमीटर दूर नगड़ी गाँव 2011-12 में काफी सुर्खियों में आया। गाँव के लोगो बिना परामर्श किए (सिंगूर की तरह) झारखंड की भाजपा सरकार ने 227 एकड़ की जमीन को केंद्रीय विश्वविद्यालय, भारतीय प्रबंधन संस्थान और सूचना प्रोद्योगिकी के कई केंद्र स्थापित करने के लिए अधिगृहीत कर लिया। आदिवासी महिला नेता डायमानी बारला के नेतृत्व में आंदोलन चला जिसमें अगली कतारों में आदिवासी औरतें और बच्चे थे। उनकी मांग थी नगड़ी रैयतों की जमीन वापस करो'।[45] परंतु किसान आंदोलन की यह लड़ाई इतनी आसान नहीं है। सरकार का इन लड़ने वालों लोगो के ऊपर दमन भी खूब होता है। इसी तरह के मामले झारखंड, मधेप्रदेश, छतीसगढ़ और ओड़ीसा के राज्यों में खूब हुआ है। 'झारखंड के आदिवासियों के मध्य काम करने वाली मलयाली महिला सिस्टर वालसा का मर्डर व मध्यप्रदेश के गोंड आदिवासियों के बीच काम करने वाली दयाबाई की लड़ाई हमारी सरकार व कंपनियों के दोगले चरित्र का पर्दाफाश करती है। छतीसगढ़ के बस्तर से हाल ही में बढ़ते स्थानीय विरोध के कारण टाटा स्टील का अपने संयंत्र को वापस लेना बेशक तमाम आंदोलनकारी ताकतों को सुकून देने वाला है।'[46] सरकार और कॉर्पोरेट स्टेट के दमन और उत्पीड़न के बाद भी अलग-अलग राज्यों चल रहे किसान संघर्षों ने किसान समुदाय के बीच एक बड़ी पहलकदमी भी पैदा की है। हम थोड़ा पीछे जाएँ तो देखते है कि 1990 के दशक में विश्व व्यापार संगठन के साथ जब तत्कालीन काँग्रेस सरकार ने हस्ताक्षर किए तब संसदीय सदन में बैठे तथाकथित 'किसानों के मसीहा' सांसदों-विधायकों में से कोई बड़ा विरोध देखें को नहीं मिला। वामपंथी पार्टियां और पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर ने इसके खिलाफ आवाज तो उठाई पर उससे सरकार के कानों पर कोई जूं नहीं रेंगा। 1990 के बाद के दशकों में किसान आंदोलन का फलक व्यापक हुआ है। यह भी एक सच्चाई है कि इस दौरान ही कई ऐसे किसान संगठन भी निर्मित हुये है जिनका एकमात्र कार्य स्वार्थपूर्ति करना है, जो समान्यतः साधन-संपन्न किसानों के गुट है। ऐसे किसान गुट या संगठन किसानों के हक की सेवा नहीं करते न ही किसानों को लेकर जो आर्थिक नीतियाँ बनती है उसका कोई अवलोकन करते है। अभी हालिया में जो मंदसौर में किसान आंदोलन हुआ उसमे भाजपा के किसान संगठन ने ऐसी ही नीति अपनाई और आंदोलन कर रहे किसान की एकता को भी तोड़ने का प्रयास किया, जिससे मंदसौर में किसान आंदोलन को भारी नुकसान हुआ और कुछेक किसानों को अपने जान से हाथ भी धोना पड़ा। 'मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले के किसान कर्ज़ माफी और फसल की कीमत बढ़ाने के लिए शांतिपूर्ण आंदोलन कर रहे थे, जिसका वादा प्रधानमंत्री ने लोकसभा

चुनाव से पहले किया था। लेकिन उनकी मांगो पर गौर करने के बजाए सरकार ने किसानों के ऊपर गोली चलवाई, जिसमें सात किसान मारे गए और सैकड़ों घायल हुये।'[47]

मैदानी किसानों के अलावा वन-क्षेत्र में भी किसान अपनी मेहनत से खेती-किसानी को अंजाम देते रहे हैं। परंतु झारखंड, छतीसगढ़ और ओड़ीशा के उन इलाकों में जहां खनिज संसाधनों की भरपूर मात्रा मौजूद हैं वहाँ सरकार और वन विभाग के कर्मी वहाँ के किसानों को निरंतर परेशान करते रहते है। वन विभाग पर लोगों द्वारा बेदखल करने के आरोप कई बार लगते रहे हैं और वहाँ के निवासी अपने आंदोलनों को लेकर दिल्ली तक उम्मीदों की यात्रा करते रहे हैं। इसके खिलाफ वन की जमीन पर बसे लोगों को सशक्त करने का काम अलग-अलग वनक्षेत्र में काम कर रही विभिन्न समितियों ने किया। महाराष्ट्र में जहां आल इंडिया किसान सभा (AIKS) ने इस काम को अंजाम दिया वही बिहार के बोधगया में मंजदूर किसान समिति, छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी और जसवा ने किया तो ओड़ीशा के नियमगिरी में संयुक्त एक्शन कमिटी बनाकर इस तरह के आंदोलन को लड़ा जा रहा है। 'मजदूर किसान समिति, वाहिनी और जसवा ने वन की जमीन पर पुश्तैनी रूप से बसे निवासियों के साथ उनकी पीड़ा को मूर्त रूप देने का अपने आंदोलन का लक्ष्य जनवरी 2008 में तय किया और 'जिनकी समस्या उन्हीं का आंदोलन' की जमीनी हकीकत के साथ व्यापक प्रदर्शन का आयोजन किया। 2008-2017 तक लगभग 9 साल तक लगातार संघर्ष चला। वन की जमीन पर बसे मजदूरों किसानों को मालिकाना हक दिलाने के लिए सुधि नागरिकों द्वारा हाइकोर्ट में जनहित याचिका दायर की गई। इस पर पूर्ण सुनवाई कर हाईकोर्ट ने वन की जमीन पर बसे और खेती करते बाशिंदों के पक्ष में सरकारी दलीलों को खारिज कर दिया और दमनकारी नीतियों के खिलाफ स्थगन आदेश दिया। हाईकोर्ट ने अपने आदेश में सरकार को स्पष्ट आदेश दिया कि 2000 एकड़ जंगल-जमीन पर सालों से खेती कर रही जनता के दावों को कानूनी मान्यता दे दी गई है। साथ ही वन की जमीन पर बसे मजदूर-किसान को तब तक बेदखल नहीं कर सकते जब तक उन बाशिंदों की मांग पूरी तरह से कानूनी निपटारा न कर लें।'[48] यह आंदोलन 'बोधगया भूमि आंदोलन' के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन की शुरुवात 1978 के पूर्वार्ध में हुई। इस आंदोलन के संदर्भ में समाजशास्त्री उमा चक्रवर्ती दिल्ली और पटना के सेमीनारों में अपने व्यक्तव्यों में कहा कि 'इस आंदोलन ने लोकतन्त्र के मूलभूत तत्व समता, बराबरी और बंधुत्व के अपने नारे को महिलाओं के दृष्टिकोण से साकार किया। दुनिया के किसी भी

आंदोलन में युवतियों की भूमिका आज उस तरह नहीं हुई है जिस तरह बोधगया भूमि आंदोलन में हुई।'[49] बोधगया महंत के भूमि साम्राज्य के खिलाफ चले इस आंदोलन ने लंबा पड़ाव तय किया और इस लंबे सफर में महिलाओं द्वारा आंदोलन में अग्रणी भूमिका निभाई। इस आंदोलन ने पितृसत्तात्मक समाज में इस सोच को स्थापित किया कि महिलाएं भी खेती के जमीन का मलिक बनेगी। इस लड़ाई का एक महत्वपूर्ण नारा रहा 'जो जमीन को जोते बोये वह उस जमीन का मालिक होवे' इस आंदोलन ने अपने पूरे कलेवर में कई सामाजिक भ्रांतियों को भी दूर किया तथा औरत को परिवार और समाज में बराबरी का अधिकार के साथ आज़ादी से जिंदगी जीने के वातावरण को भी निर्मित किया।

पिछले तीन वर्षों से हमने देखा कि किसान सबसे अधिक कर्ज़ माफी और स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार फसलों का डेढ़ गुना दाम मांगने को लेकर आंदोलन कर रहे है। वर्तमान समय में किसानों की कर्ज़ माफी और खेती को घाटे से निकालने का सवाल देशव्यापी सवाल बनने लगा है। स्वामीनाथन आयोग के अनुसार फसल के डेढ़ गुना दाम और कर्ज़ माफी के सवाल को लेकर पंजाब और महाराष्ट्र के किसानों नें सबसे पहले आंदोलन शुरू किया था। लेकिन तात्कालिक समस्या को सामने रखकर जो भी आंदोलन छोटे-बड़े आंदोलन होते है, उन्हे उचित नेतृत्वकर्ता के अभाव में चुनावी पार्टियां, उनके स्थानीय नेता लोग उसको अपने अंजाम तक नहीं पहुंचने देते है और लाभ के संबंध में उन आंदोलनो का इस्तेमाल कर लेते है। चुनावी पार्टियां और उनके नेताओ के छल-कपट से अब किसानों का विश्वास खत्म हो चुका है और वह फिलहाल इस बड़े संकट की परिस्थिति में भी कोई बड़ा आंदोलन नहीं खड़ा कर पा रहा है। आज उसके असंतोष और बदहाली मात्र गाँव और पंचायत तक सिमट कर रह गए है। आज यह स्पष्ट दिख रहा है कि कॉर्पोरेट स्टेट अपने आर्थिक हितों के लाभ के लिए बड़े स्तर पर एकजुट है और उसकी एकजुटता में कहीं भी जाति-समुदाय, संप्रदाय, ऊँच-नीच कभी भी आड़े नहीं आता। अपनी एकता के माध्यम से वह मीडिया, सरकार और न्याय को भी खरीदने से नहीं हिचकते। वहीं दूसरी ओर किसान और उससे जुड़े उत्पादक समूहों को कहीं जाति के नाम पर तो कहीं धर्म के नाम पर अलग कर दिया जाता है, ताकि ये लोग अपनी समस्याओं को लेकर कभी एकजुट नहीं हो पाये। संकट की गंभीरता को देखते हुये यह जरूरी हो गया है कि दूसरे अन्य भावनात्मक रूप से उलझने वाले मुद्दों को छोड़कर किसान को एक आंदोलन की ओर बढ़ना होगा जिसमें किसान, खेत-मजदूर के साथ सभी

मेहनतकश समुदाय को एक साथ ला खड़ा किया जा सके और सरकार को किसान के पक्ष में खड़े होने के साथ-साथ आर्थिक नीतियों को किसान के पक्ष में रखकर लागू करने के लिए मजबूर किया जा सके।

सन् 1990 के बाद के अधिकतर किसान आंदोलन अलग-अलग समूहों में ज़्यादातर हुये। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था ने किसान और उससे जुड़े उत्पादक समूहों को सबसे अधिक निराश किया है। हम देखते है कि भारतीय लोकतन्त्र में जो वर्ग-समूह सबसे अधिक मतदान में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेता है, वह ग्रामीण समुदाय का होता है। शहरी समुदाय का मतदान में हिस्सा लेने का प्रतिशत कम ही रहा। इसके लिए किसी भी चुनाव वर्ष का आंकड़ा उठाकर देखा जा सकता है। लेकिन हम देखते है कि जो भी सरकार दिल्ली की गद्दी पर बैठती है वह चुनाव जीतने के साथ ही किसान- विमुख हो जाती है। उसके एजेंडे के कागजों में केवल गाँव और किसान रह जाते है और उसके सभी प्रयास उद्योगपतियों और शहर को लाभ पहुंचाने के लिए होने लगते है।

वर्तमान समय में भारतीय समाज का जो रूप है वह अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-पूंजीवादी है। इस परिवेश में भारतीय कृषि उलझा हुआ है। इस संकट भरे समय में भारत सरकार कृषि संकट का इस्तेमाल कॉर्पोरेट राज्य के पुर्नगठन के लिए कर रही है। कृषि के जरिये ही जो विकास का रास्ता हो सकता था उसके लिए कोई उपाय न करते हुये सरकार पूंजीवादी विकास को नव-औपनिवेशिक कॉर्पोरेट संरचना की ओर धकेल रही है। यही कारण है कि इस तरह की स्थिति में एक बड़ी आबादी कृषि कार्य से बाहर हो रही है। जिसका सीधा लाभ उन बड़े पूँजीपतियों को हो रहा है जो खेतिहर जमीन को लुभावने भू-संपदा में बदल कृषि-जमीन को 'ठेका फार्मर' में तब्दील कर दे रहे है। इस पृष्ठभूमि में देश के अंदर एक व्यापक कृषि आंदोलन की अनुगूँज सुनाई दे रही है और वह अनेक स्तरो पर इसका गवाह भी बन रहा है। यह एक और बात है कि इन आंदोलनों की कोई केन्द्रीयता देखने में नहीं आ रही है, लेकिन 1990 के बाद के कृषि आंदोलनों की यह एक विशेषता भी है। जबर्दस्ती और धोखाधड़ी से भूमि अधिग्रहण के खिलाफ, कर्ज़ से मुक्ति और उचित समर्थन मूल्य को लेकर देश में कई जगह तीखे आंदोलन हुये है। किसान चाहते है कि फसल की लागत का हिसाब बेहतर पद्धति से किया जाए, जिस पर कि फसल की लागत पर कम से कम 50 प्रतिशत की बचत हो। साथ ही फसल के सरकारी खरीद के अलावा भी और नए तरीके विकसित किए जाए जिससे सभी किसानों को उसके फसल का घोषित मूल्य

हासिल हो सके। आज किसान इन मांगों के साथ आंदोलित है। किसान आंदोलन और उसकी समयाओं को लेकर लंबे समय से कार्यरत पी॰ साईनाथ॰ लिखते है कि 'किसानों की मुश्किलें समझने के लिए आंदोलनों की जगह किसानों और खेत-मजदूरों की जिंदगी की स्टडी होनी चाहिए। हर बार किसानों की समस्या आंकड़ों में गुम कर दी जाती है। किसानों की समस्या को कर्ज़ या आत्महत्या तक सीमित करना बेवकूफी है। कर्ज़ और आत्महत्या किसानों की समस्याओं का नतीजा है, कारण नहीं। यह तय बात है कि किसानों को व्यवस्थागत तरीके से लूटा और बर्बाद किया जा रहा है। किसान की परेशानी के साथ ही ग्रामीण परिवेश भी खतरे में पड़ जाता है। क्योंकि ग्रामीण समाज की धुरी किसान के ईद-गिर्द ही घूमती है। वर्तमान समय में खेती-किसानी के साथ पानी की उपलब्धता का कम होना, रोजगार का संकट और पलायन सहित कई संकट है। हमारे यहाँ सरकार की यह अनदेखी ही कही जाएगी कि वह जनगणना में शहरी क्षेत्र को परिभाषित तो करती है लेकिन ग्रामीण इलाकों को परिभाषित नहीं करती और आज ग्रामीण संस्कृति संकट में है। ग्रामीण क्षेत्र की तरफ नजर घुमाइए तो वहाँ केवल किसान आत्महत्या नहीं कर रहे है बल्कि ग्रामीण रोजगार पर आश्रित लोग भी आत्महत्या कर रहे है। पी॰ साईनाथ॰ ग्रामीण क्षेत्र में पानी, भूख, भोजन, कृषि, काम, भाषा, रोजगार, शिक्षा और पलायन सहित कुल 12 संकटों को चिन्हित करते है।[50] इन संकटों से किसान और ग्रामीण जन को लड़ना पड़ता है। सरकार पंचायत से लेकर संसद तक मौजूद है परंतु उसकी कोई ठोस पहलकदमी इस ओर नहीं है। जब समस्या खड़ी हो जाती है तो सरकार की कोशिश समस्या के समाधान तक ही दिखाई देती है जबकि बुनियादी बदलाव तक वह नहीं पहुँच पाती। इस आत्महंता जनित असमानता की हकीकत में किसान सबसे लड़ते हुये खेती को जिंदा रखे हुये है और उसका सबसे बड़ा आंदोलन भी यही है।

सृजन से आत्महत्या तक के सफर में किसान अपनी वैचारिकी को रचना और आत्महंता के माध्यम से संप्रेषित कर रहा है। उसके इस सम्प्रेषण को शब्दों के जो बाजीगर है वह कितना स्थान दे पाते है यह जानना-देखना महत्वपूर्ण है। हम सब देख रहे है कि सन् 1995 के बाद से किसान समुदाय के बीच में आत्महत्या का एक विनाशकरी ट्रेंड सामने आता है और यह तथ्य हमें सोचने के लिए विवश करता है कि क्या साहित्य ने भी बदलते हुये दौर में अपने सरोकार बदल लिए हैं या फिर वहाँ किसान समुदाय और उसके सवालों को लेकर कोई जगह शेष है? इस प्रश्न के आलोक में हम जब देखते है तो वहाँ निराशा ही हाथ लगती है। किसान को लेकर सबसे कम सवाल साहित्य में तब दिखाई दिये जब

किसान सबसे अधिक संकट की स्थिति में है। किसान के साथ होने वाले अन्याय को ठीक ढंग से न संबोधित-संप्रेषित कर उसके साथ अन्याय ही किया गया है। मूलतः यह ठीक ढंग से संबोधित न कर पाने की जो समझदारी है वह शोषण और शोषित की समझ है। शोषण और शोषित होते जाने का यह खेल किस तरह किसान और उसके साथ चलने वाली सभ्यता के साथ जुड़ा हुआ है इसी दृष्टि से देखा जाएगा।

संदर्भ:-

1. Marxism and Literature, रेमंड विलियम्स पृ.09
2. गोदान, प्रेमचंद
3. फाँस, पृष्ठ-158
4. फाँस, पृष्ठ-109
5. साहित्य की समकालीनता, भूमिका से
6. साहित्य की समकालीनता, पृष्ठ-23
7. वही, पृष्ठ-23
8. पी साईनाथ का यूट्यूब विडियो, On Media Role
9. कालीचाट, सुनील चतुर्वेदी, पृष्ठ-148
10. आनंद प्रधान का आलेख, अकार- 43, पृष्ठ-62
11. कथा में गाँव, भूमिका से, स. सुभाषचंद्र कुशवाहा
12. हंस, अगस्त 2006, पृष्ठ- 13
13. सुभाषचंद्र कुशवाहा का आलेख, हिंदी कहानी और किसान अनुभूति, www.rachnakar.com से
14. हतभागे किसान, प्रेमचंद रचना संचयन, पृष्ठ-77
15. अकार, 43 अंक, पृष्ठ-143

16. छोटा किसान, जयनंदन, पृष्ठ-75
17. बीबीसी किसान की बदहाली, अगस्त 2015
18. तरबूज का बीज, अरुण कुमार असफल, पृष्ठ-63
19. बीबीसी, जुलाई 2014 और 8 अप्रैल 2015
20. किसान की अत्महत्या, अभिनव कदम, 27 अंक, पृष्ठ-277-278
21. एनसीआरबी, किसान आत्महत्या से जुड़े आंकड़े, www.ncrb.in
22. अभिनव कदम, अंक 26-27, सम्पादकीय
23. वहीं, नागरज का आलेख, पृष्ठ-277
24. इंडियन एक्सप्रेस, पटना संस्करण, मई 2015
25. द वायर, 22 मार्च 2018
26. न्यूज़ क्लिक, भारत में कृषि क्यों हैं संकट में, 7 Nov. 2017
27. योगेंद्र यादव से बातचीत, बदल रहा है किसान आंदोलन
28. वहीं पृष्ठ-11
29. वहीं पृष्ठ-8
30. इंद्रजाल, विजयकांत, पृष्ठ-42
31. भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, ए. आर. देसाई, पृष्ठ-57-58
32. WWW.DW.COM, नक्सलबाड़ी और चारू मजुमदार
33. रचना समय, www.rachnakar.org/2015/01/blog
34. www.yathawat.com, किसान और उसकी समस्यायें
35. अपनी माटी, किसान आंदोलन, भीम सिंह का आलेख
36. बीजेपी के 2014 के चुनावी घोषणा पात्र से
37. विनोद मिश्रा की संकलित रचनाएँ, पृष्ठ-
38. ज़मीन, बनाफर चन्द्र, पृष्ठ-41
39. अपनी माटी, किसान आंदोलन और साहित्य, भीम सिंह

40. द वायर, 22 मार्च 2018
41. समकालीन जनमत, दिसंबर 2017 अंक, पृष्ठ-4
42. वहीं, क्यों जारी है ख़ुदकुशी की खेती,
43. अपनी माटी, किसान जीवन और समकालीन परिदृश्य, प्रदीप कुमार का आलेख,
44. वहीं,
45. फिलहाल, मार्च 2018, पृष्ठ-12
46. वहीँ, पृष्ठ-13-14
47. वहीँ, पृष्ठ-13-14
48. वही, पृष्ठ-13-14
49. किसान पत्रिका सम्पादकीय पृष्ठ-1, अंक 16
50. बदल रहा है किसान आंदोलन, पी. साईनाथ, पृष्ठ-77

तीसरा अध्याय

समावेशी विकास की राजनीति और ग्रामीण संरचना में किसान संघर्ष

2.1 ग्रामीण समाज और किसान

3.2 किसान जीवन की जमीन: सपने और संघर्ष

3.3 मुआवजा, बैंक और किसान

समावेशी विकास की राजनीति और ग्रामीण संरचना में किसान संघर्ष

हमारे समय की सबसे जटिल स्थिति ग्रामीण क्षेत्रों की है। प्रश्न है कि ग्रामीण इलाकों/क्षेत्रों की कहानी जटिल क्योंकर है? जबकि ग्रामीण अर्थात गांवों में बसने वाले लोग तो सहज और सरल होते हैं, तब वहाँ की स्थिति को जटिल क्योंकर बताया जाता है? यह प्रश्न केवल मुट्ठी भर लोगों का नहीं है? यह उन सबका प्रश्न है जो ग्रामीण हालातों को लेकर सोचते है और उसकी जटिलताओं को समझने की कोशिश करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ समस्याएँ पहले से विद्यमान रही हैं, जो वहाँ की सामाजिक और आर्थिक अड़चने है उसने वैसे भी ग्रामीण इलाकों के प्रति उसके दूसरे चित्र को स्थापित किया है। आमतौर पर गाँव और ग्रामीण के उल्लेख से यही ख्याल आता है, कुछ खास तरीके के 'विकास' से कई कोस पीछे की स्थिति में रहने वाले लोग और उनका गाँव-समाज। इस पिछड़ेपन को ही आधार बनाकर लोतांत्रिक ढंग से चुन कर आई हुई सरकारों ने गाँव और उसके ग्रामीण विकास के लिए कई तरह की योजनाएँ बनाती रहती हैं और उसको लागू करती है। परंतु इन योजनाओं ने ग्रामीण तबके का कितना सुधार किया है यह देखने वाली बात है और इसका पड़ताल करना भी जरूरी है। आज देश को आज़ाद हुये 70 वर्ष होने को आयें है लेकिन यह जानना महत्वपूर्ण है कि क्या ग्रामीण तबकों में कोई बुनियादी बदलाव हुआ है या फिर वही ढाक के तीन पात वाली ही स्थिति है? हम निरंतर देखते हैं कि शहर को आमतौर पर समृद्धि की नगरी के रूप में आज-कल प्रचारित प्रसारित किया जाता है और गाँव को शहर के मुक़ाबले कमतर और पिछड़ा हुआ बताया जाता है। इस पूरे आकलन के पीछे जो समझदारी है वह बहुत ही घातक है और मानव-संस्कृति की विरोधी भी मालूम पड़ती है। जबकि हम देखते हैं कि गाँव और वहाँ निवास करने वाले ग्रामीण सामाजिक संरचना और उसकी वस्तुस्थिति से परिचित कराने का सबसे बेहतर जरिया है। गाँव में हमे एक साथ बहुत सारे सामाजिक उदाहरण मिलते है, सामाजिक संरचना और उसकी समस्याओं से दो-चार होने का मौका मिलता है।

वर्तमान दौर में ऐसे कथाकार कम नजर आते है जो शहरों के आधुनिक संकटों के बजाए ग्रामीण इलाकों की समस्याओं को देखें। यहाँ सवाल शहर के बरक्स दूसरी समस्या या गाँव को खड़ा करने का नहीं है बल्कि कोशिश है कि हम सभी अपने दौर का जो सबसे मौजू सवाल है उससे जुड़े और उससे जूझे। नव-उदारवाद के बाद से हम यह निरंतर देख रहे हैं कि शहर का समाज ज्यादा प्रभुत्वशाली है बनिस्पत गाँव के। हालांकि विकास की मौजूदा समझदारी में गाँव पिछड़ रहे है, कृषि भूमि के घटने और खेती की खस्ताहाल स्थिति ने वहाँ भयंकर बेरोजरगारी की स्थिति पैदा की है और ग्रामीण संस्कृति का धीरे-धीरे खत्म होना ग्रामीण समाज को संकट की स्थिति में डाल रहा है। हमारी कोशिश इस संकट को समझने की है। इस संकट के पड़ताल के वक़्त हमे यह भी ध्यान रखना है कि गाँव या ग्रामीण संरचना में केवल उजला पक्ष ही नहीं मौजूद है बल्कि ग्रामीण समाज में पितृसत्ता, सामंतवाद और जातिवाद इत्यादि जैसे स्याह पक्ष भी है। इसलिए ग्रामीण संरचना को हम केवल नैतिक-अनैतिक या केवल एक परिपाटी के बजाए सभी कोणों से देखने का प्रयास करेंगे जिसमें भावुकता शामिल न हो।

3.1 ग्रामीण समाज और किसान

विकास शहर का भी हो रहा है और ग्रामीण तबकों का भी हो रहा है, लेकिन उसकी स्थिति क्या है और उसको ग्रामीण समुदाय किस तरह देखता हैं, इसके संदर्भ में डूंगा कहता है 'उसे अपने आसपास की दुनिया में बहुत कुछ बदलाव नजर आता। बदलाव, कुछ समझ में आता और कुछ समझ से परे भी रह जाता।'[1] परंतु दोनों का प्रभाव क्षेत्र और पैमाने अलग-अलग है यह स्पष्ट दिखाई देता है। आज की हालत यह है कि शहर में लोगों को अच्छे जीवन का भरोसा दिया जाता है और गाँव को विकास के लिए बलि चढ़ाने को चुन लिया जाता है और जो विकास होता है वह समझ से परे ही होता है। हम देखते हैं कि पूंजी के प्रसार के लिए भारत में अनेकों नए शहर बसाये गए हैं, जैसे जमशेदपुर, चंडीगढ़, गुडगांव, नॉएडा, मोहाली आदि नए दौर के शहर हैं, लेकिन कोई नया गाँव इस दौरान नहीं बसाया गया है बल्कि विकास के नाम पर अनेकों गाँव के उजड़ने की कहानी जरूर है। भारतीय लोकतन्त्र के वर्तमान विकास प्रणाली में बसाये गए लोगो की संख्या से कहीं ज्यादा है विस्थापित हुये लोगो की

संख्या है। विकास की अनेक परियोजनाएं शहर के लोगों को ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं और उसके लिए जमीन गाँव को देना होता है, उस परियोजना के लिए मानव श्रम गाँव को देना होता है लेकिन परियोजना के खत्म होने के बाद उसका सबसे अधिक प्रभाव गाँव की ग्रामीण संरचना पर पड़ता है। 'इंडिया रचकर व्याख्या की- यही तो है हिन्दोस्तान...भारत। उन्होने स्वीकृति में सिर हिला दिया और इंडिया की खुशहाली देख-सुन संतोष पाते रहे। वे 'भारत दैट इज इंडिया' कहने वालों की चतुराई नहीं पकड़ पाये।'[2]

ग्रामीण संरचना में किसान धुरी के रूप में स्थित होता है। इस पूरे संरचना में किसान अपने श्रम और सूझ-बूझ से अनेक समस्याओं से लड़ता है। ग्रामीण समाज की संरचना में उसके संघर्ष के कई आयाम हैं। भारतीय समाज के विकासक्रम में किसान अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-पूंजीवादी योजनाबद्ध विकास की संरचना में अपना जीवन-यापन कर रहा है। उत्पादन के अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-पूंजीवादी सामाजिक सम्बन्धों की तस्वीर में वह भूमि सुधार के अभाव में, श्रम की प्रक्रिया के बजाए गैर-आर्थिक प्रक्रिया के जरिये शोषण की असमान असंतुलन के बीच अपने संघर्षों को अमली-जामा पहनाता रहा है। असमान और असंतुलित विकास की प्रक्रिया में किसान की जातीय संरचना में अनेक स्तर मौजूद है। ग्रामीण संरचना में मौजूद स्तर में से ही उसका जातीय और आर्थिक उत्पीड़न भी होता है। ग्रामीण समाज की संस्थानिक संरचना और ग्रामीण शक्ति संतुलन के दायरे में ही विकास की गाड़ी घूमती नजर आती है। विकास के जो ग्रामीण पक्ष है अगर हम उसको देखे, तो उसमे अधिकतर खेती में सरकारी योजना के तहत पूंजीनिवेश है, किसान को सूदखोरों से बचाने हेतु बैंक द्वारा कर्ज़ दिलवाना या फिर गरीबी निवारण योजनाएँ ये सब नीतियाँ ज़ोर-शोर के साथ आती तो है लेकिन ग्रामीण इलाकों के हर गली-घर तक नहीं पहुँच पाती है। इसका सबसे बड़ा कारण है ग्रामीण समाज की सामाजिक संरचना और उसमे विद्यमान किसान की संस्थानिक संरचना। ये दोनों संरचनाएं ग्रामीण इलाको में शक्ति-संतुलन का कार्य करती नजर आती है। इन संरचनाओं ने बहुत हद तक किसान के समुचित विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर रखा है जिसकी वजह से ग्रामीण संरचना में मौजूद हरेक किसान अपनी रचनात्मक ऊर्जा का भरपूर उपयोग नहीं कर पाता है।

'हल जोतते हुये ताज़ी मिट्टी से जो एक सोंधी खुशबू निकलती है उससे छाती में मानो एक नई संजीवनी मिल जाती है... धान, गेहूं, मकई-मड़ुआ आदि में जब बाली निकाल रही होती... सरसो, अरहड़, ज्वार जब फुला रहे होते तो इन्हे देखने के सुख की भला क्या काहू बराबरी हो सकती है? पौधों का अंकुराना.... पत्तों का निकलना... धीरे-धीरे इनका बड़ा होना, इन्हे कोड़ना, पटाना, निकाना आदि सभी किसानी धर्म में एक बच्चे को पालने, परिवरिश करने जैसी माँ वाली परितृप्ति क्या शहर में दूसरे पेशे में मयस्सर हो सकती है? पौधे जितनी अवस्थाओं से गुजरते है वे सब मानो एक करिश्मा होता है.... एक कुदरती जादू। विरासत में उन्हे यही पाठ मिला है कि किसानी कोई धंधा नहीं है बल्कि शुद्ध-सात्विक सेवा है.... खुद्दारी... सृजन का परितोष है, वह किसी बड़े से बड़े पेशे में भी मुमकिन नहीं। बेटों को कैसे समझाएँ वह?'[3] कहानीकार जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान' का दाहू महतो उपरोक्त कथन सोचता है तो उसके इस कथन में स्पष्ट रूप से किसानी की जो रचनात्मक ऊर्जा है, उससे जो लगाव है, वह उसको व्यक्त कर रहा होता है, लेकिन कथन के अंत में जब वह इस बात को कहता है कि बेटों को कैसे समझाये? यह एक पीढ़ीगत अंतर है कि किसानी को आज के तारीख में नई पीढ़ी को कैसे बतलाया जाए कि किसानी का काम रचनात्मक कार्य है जिसमें 'सृजन का परितोष' मिलता है। वहीँ दाहू महतो के लड़के अपने जीवन के वर्तमान पड़ाव पर आकर देखते हैं तो पाते है कि उनके पिता दाहू महतो छोटे खेतिहर किसान से अब भूमिहीन होने के कगार पर पहुँच चुके है। अनुभव और अभाव के जरिये दाहू महतो के लड़का बड़कू कहता है 'बाउजी, हमारे पास खेत-घर और मवेशी को लेकर डेढ़ लाख की संपत्ति है। फिर भी हम कर्ज़ में डूबे हुये है.... फटेहाल हैं। छह महीने भूखे-सूखे चलाने पड़ते है।'[4]

किसान के संघर्ष पर जब हम विचार कर रहे होते है तो हमे किसान की दशा अत्यंत सोचनीय दिखाई पड़ती है। किसान जीवन की समस्याओं और उसके संघर्षों पर विचार करे तो पाते है कि नव-उदारवाद से पूर्व भी उसकी दशा खराब थी। महाजनी सभ्यता में भी किसान के शोषण और उसके संघर्ष को देखा जा सकता है। यूं

तो ठाकुर जगमोहन सिंह का उपन्यास 'श्यामा स्वप्न' एक रूमानियत भरा उपन्यास है लेकिन किसान की स्थिति वहाँ भी बहुत अच्छी नहीं मिलती है प्रेमचंद के 'गोदान' से लेकर राजू शर्मा के 'हलफनामे' तक और उसके बाद शिवमूर्ती के 'आखिरी छलांग' से संजीव के 'फांस' तक ऐसा ही लगता है कि किसान अपने साथ होने वाले शोषण को सहने के लिए अभिशप्त है। मरजाद को बचाने की लड़ाई, लगता है कि किसान की ही केवल लड़ाई है लेकिन यह मरजाद अपनी पूरी यात्रा में बहुत सारे किसानों को काल का ग्रास भी बना चुका है। आज 40 फीसदी से अधिक किसान खेती के पेशे को छोडना चाहते है। कारण स्पष्ट है कि खेती में जो मध्यम किसान है, सीमांत किसान है, छोटी जोत के किसान है उनकी जमीन कम होती जा रही है। कर्ज़ और जीवन के बोझ तले पड़े संकट से निकलने के लिए उसके पास एकमात्र उपाय जमीन के रूप में दिखाई देती है और वह उसको बेच कर बेटी की शादी से लेकर बेटे के रोजगार तक का सफर पूरा करना चाहता है। 'पेट चलाने के अलावा अगर कोई दूसरा बड़ा काम आ गया और उसे टालना किसी भी तरह संभव न हुआ तो खेत रेहन रखने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं। खेत जो एक बार रेहन रखा गया, उसकी मुक्ति का फिर कोई रास्ता नहीं.... मुन्दरी की शादी में उन्हे दस कट्ठा बेचना पड़ा। पिछले साल एक बैल बूढ़ा गया तो दो कट्ठा रेहन रखना पड़ा। इसी साल बडकू की टांग की हड्डी छिटक गई तो एक कट्ठा हटाना पड़ा।'[5]

किसान को केवल एक कैटेगरी या श्रेणी में रखकर नहीं देखा जा सकता। ग्रामीण समाज में किसान और उसके संघर्ष का मूल्यांकन करते हुये किसान को सर्वहारा मानकर सामाजिक स्थिति का आकलन नहीं किया जा सकता। किसान समस्या और उसके संघर्ष को ऐतिहासिक भौतिक यथार्थ से अलग केवल ग्रामीण यथार्थ से नहीं समझा जा सकता और न ही निजी संपति और उत्पादन के सरप्लस वैल्यू के प्रश्न को अंधेरे में रखकर भी समझा जा सकता है। 'नव विकसित पिछड़ावाद और दलितवाद के अस्मितावादी-मध्यवर्गीय अंतर्विरोधों को दरकिनार कर सारतत्व की तरह 'भूमि समस्या' को 'संसदीय जनतंत्रवादी कल्याणकारी' यथास्थितिवादी संसदीय किसान दृष्टि से आगे निकलने की जरूरत है किसान समस्या को समझने और उससे निजात पाने के लिए।[6]

किसान के यहाँ भूमि का सवाल यद्यपि एक प्रमुख सवाल है। भारतीय सामाजिक स्थिति में जो बहुसंख्यक आबादी है वह हिन्दू है और जमीन पर सबसे अधिक हक सबका न होकर हिन्दू-धर्म व्यवस्था के अंदर मे जो ऊपरी पायदान पर मौजूद है उनका है, खासकर उच्च जतियों का। हिन्दू समुदाय के अंदर जो विद्वेषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था है उसमें हिन्दू धर्म के अंदर की बहुसंख्यक आबादी को ज़मीन के अधिकार से वंचित कर दिया गया है जिनमे अधिकतर वैसी जातियाँ जो निम्न-वर्गीय है। हिन्दू धर्म अपने धर्म की सामाजिक अवस्थाओं में, मान्यताओं और रिवाजों से घिरा हुआ समाज है। किसान भी इसी तरह के मान्यताओं-रिवाजो और अंधविश्वास में फंसा हुआ है और इन्ही सामाजिक मान्यता आधारित 'मरजाद' को पूरा करते हुये वह स्वयं के जीवन को होम कर देता है। संजीव का उपन्यास 'फांस' किसान के ऐसे संघर्षों को बखूबी सामने लाता है।

शंकुतला बेटियों के विवाह में दहेज को लेकर होने वाली मुश्किलों को हिन्दू समुदाय की बड़ी जाति के अंदर मौजूद धन-लिप्सा से जोड़कर देखती है। वह बताती है कि उसकी जाति के लड़कों के लिए दहेज का रेट एक हीरो होंडा मोटरसाईकल और एक लाख रुपया नकद है। लेकिन किसी भी छोटे किसान के लिए इस तरह के कार्य के लिए धन को इकठ्ठा करना टेढ़ी खीर के समान होता है। आर्थिक रूप से संकटग्रस्त किसान के लिए यह रकम और पूरा खर्चा एक जोखिम भरा कार्य होता है जिसकी परिणति कर्ज़ के रूप में किसान के ऊपर होती है। फांस उपन्यास की पात्र शकुंतला अपने पति से बहस करते हुये कहती है – 'अपने बगल के गाँव में नीलु और चंदा के बाप को किसने मारा, फसल की बरबादी ने? नहीं... इन्ही हिंदुओं की इसी संक्रामक बीमारी ने'[7] और अपनी बेटियों के लिए वर खोजते शिबू को लगता है, कि 'काश यह जाति व्यवस्था न होती तो समाधान इतना मुश्किल न होता।'[8]

जाति व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की एक बड़ी सच्चाई है और यह व्यवस्था आज़ादी के 70 साल बाद भी समाज एवं जीवन को संचालित करने वाले बड़े माध्यम के रूप में अपनी विकृतियों के साथ मौजूद है। यह विकृतियाँ सामाजिक उत्पीड़न का एक बड़ा जरिया है जिसके फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि हिन्दू

समाज अपनी विकृतियों के साथ यातना गृह के रूप में नजर आता है। इस माध्यम से समाज और जीवन दोनों आगे जाने के बजाए पीछे की ओर चलते जाते है। खान-पान, शादी-विवाह, लेन-देन सब जाति व्यवस्था के अंदर निहित है और यह जाति व्यवस्था वर्णाश्रम समझदारी पर आश्रित है जिसको हिन्दू धर्म संचालित करता है।

भारतीय ग्रामीण संरचना में व्याप्त जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था और सामंती व्यवस्था में किसान का संघर्ष, उसके जीवन के निर्वाह का संघर्ष किसान समुदाय के अंदर मौजूद संघर्ष के तीव्र आकांक्षा और बदलाव को रेखांकित करता है। परंतु सवाल है कि यह बदलाव कहाँ जा रहा है? वर्तमान दौर में किसान की नई पीढ़ी 'गोदान' के गोबर और 'छोटा किसान' के बड़कू के सहारे शहर की ओर जा रहें है अपनी यथास्थिति को बरकरार रखते हुये, या फिर किसान के संघर्ष को बदलाव और बेहतरी की दिशा में मोड़ता है? यह प्रश्न तो हैं क्योंकि यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि जो 'किसान दृष्टि' 1990 के बाद बन रही है साहित्य में वह बदलाव के बजाए पूंजी के व्यापार में ज्यादा रुचि दिखा रही है। जहां एक तरफ किसान की पिछली पीढ़ी किसानी को लेकर आत्महत्या तक कर जा रही है वही नई पीढ़ी किसानी से मुंह मोड़ते हुये शहर में अपने उम्मीदों को ढूँढने निकल पड़ती है। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने अपना कार्य बखूबी किया है कि उसने अपने किसानी-विनाश कार्यक्रमों के जरिये किसान के अगली पीढ़ी को किसानी से अलग कर दिया है। खेत होने के बाद भी किसान खेती को नहीं तैयार हो रहे हैं, यह समझ किसान के एक बड़े तबके में घर बना चुका है। इसकी एवज में ही आज की तारीख में बटाईदार किसानों की संख्या बढ़ी है और इनके संकट भी बढ़े है जिसकी ओर सरकारी अनदेखी पूर्व की भांति चलती आ रही है।

ग्रामीण सामाजिक संरचना में यह जानना जरूरी है कि 'किसान' कौन है? अँग्रेजी भाषा में किसान के लिए मुख्यतः दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है, पहला 'Farmer' (फार्मर) और दूसरा 'Peasant' (पिजेण्ट)। अँग्रेजी के इन दोनों शब्दों में बड़ा अंतर है। फार्मर शब्द जहां किसान को ध्येयित करता है वहीं पिजेण्ट शब्द खेतिहर

किसान और खेतिहर मजदूर को व्याख्यायित करता है। भारतीय ग्रामीण संरचना में किसान कि दो उत्पादन प्रणाली को देखा जाता है। सामंती और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली यहाँ मुख्य रूप से मौजूद है। इसी के आधार पर किसान का विभाजन भी है, जिसके पास ज़मीन है वह भू-स्वामी है जिसमें बड़े-सामंत किसान हैं, तो वहीं मंझौले और छोटी जोत वाले किसान भी है जो बड़े भू-स्वामियों से सामंती संरचना में नीचे है और अंत में खेतिहर मजदूर है जो दूसरे की ज़मीन पर खेती का कार्य करते है। यह मूलतः खेतों में मजदूरी करते हैं और उत्पादन में सबसे अधिक श्रम इनका ही होता है, परन्तु सामंती व्यवस्था में जहां यह बंधुआ मजदूर होते थे वहीं पूंजीवादी व्यवस्था में यह मजदूर के रूप में है और किसान के उत्पादन प्रणाली में सबसे अंतिम पायदान पर है। भारतीय ग्रामीण संरचना में जो भू-स्वामी है, सीमांत या छोटे किसान है तथा जो खेतिहर किसान है, क्या वह वर्गीय और जातीय संरचना में एक है? इस सवाल को जब हम देखते है तो पाते है की खेतिहर मजदूर जातीय संरचना में भी निचले पायदान पर है। 'सवाल यहाँ उपस्थित होता है कि भूमिपति और कृषिदास (खेतिहर मजदूर) के हित क्या एक है? धनाढ्य किसान या नवसामंत, परंपरागत भूमिपति को चुनौती देते हुये अपनी नवीन छवि और अस्मिता का निर्माण करता है तो दोनों में वर्चस्व के लिए संघर्ष होना स्वाभाविक है। एक वर्ग परंपरागत यथास्थिति को बरकरार रखना चाहता है, तो दूसरा नवीन उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत अपने को स्थापित करना चाहता है। इस रूप में यह संघर्ष केवल आर्थिक नहीं रहता, बल्कि इसमें सामाजिक वर्गों की राजनीति, प्रशासन् और सत्ता से गठजोड़ की शक्ति भी कार्य करती है। जैसे राजस्थान में राजपूत और जाटों के मध्य सत्ता संघर्ष को देखा जा सकता है। हम लघु और सीमांत कृषकों को, जो खेतिहर मजदूरों के रूप में कार्य करते है, कहाँ रखते है? इस संदर्भ में इतिहासकर आर॰ एस॰ शर्मा॰ और हरबंस मुखिया की अपनी-अपनी मान्यताएं भारतीय और यूरोपीय सामंतवाद के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। इन दोनों ने पिजेण्ट और फार्मर में अंतर, बड़े किसान/ जागीरदार, मंझौले किसान और छोटी जोत के किसान, खेत मजदूर/ मजदूर, कृषिदास गुलाम/ हाली के मध्य सम्बन्धों को अलगाते हुये विश्लेषण किया है।'[9]

'छोटा किसान' कहानी में दाहु महतो के जरिये रचनाकार लिखता है कि 'गाँव में सात किसान हैं पंप वाले.... इन्हें वर्षा की कोई परवाह नहीं। इनके पास ट्यूबवेल का पानी है, परंतु आँख में पानी नहीं हैं। छोटे किसानों पर इनकी कोई मुरौव्वत नहीं। उल्टें ये लोग चाहते कि छोटे और कर्ज़ में डूब जाएं... अपने खेत बेच दें।'[10] यहाँ ग्रामीण संरचना में मौजूद दो किसानों के बीच जो अंतर्विरोध है वह सामाजिक और आर्थिक है। स्पष्ट है कि दोनों किसान किसी एक 'किसान दृष्टि' से नहीं संचालित है बल्कि दोनों के हित भिन्न-भिन्न है और उनका संघर्ष भी। किसान के संदर्भ में अधिकतर एक गलती आलोचना में होती है, जहां समूचे किसान को एक किसान मान कर किसान की समस्या का मूल्यांकन किया जाता है। 'किसान का मूल्यांकन करते वक़्त एक तो किसान को सर्वहारा की जगह रखकर सामाजिक बदलाव की जिस रूपरेखा कि कल्पना की जाती है वहाँ किसान और मजदूर आपस में गड्ड-मड्ड हो जातें हैं। किसान समस्या को उसके एतिहासिक भौतिक यथार्थ से अलग, अपने 'कान्सेप्चुयल मैटेरियल सेंस' से समझा जाता है और प्राइवेट प्रॉपर्टी और सरपल्स वैल्यू को अंधेरे में रखा जाता है'[11] जैसा सवाल दाहू महतो के जरिये कहानी 'छोटा किसान' में उठाया जा रहा है उसे समझने की जरूरत है। क्योंकि किसान की बदहाली एक हकीकत है। सरकार और उसके संस्थाओं के जरिये जो बुनियादी सुधार की कोशिशो को लेकर घोर उपेक्षा है वह सरकार को किसान विरोधी ही खड़ा करती है।

'बाउ, जो सरकार है उसे इसका इल्म नहीं तो हमें क्यों हो? जिनके पास खेत है वे खेती नहीं करते... और जिनके पास खेत नहीं है वे खेती कर रहे हैं। कौन देखनेवाला है इस अंधेरगर्दी को? कोई भी नहीं.... हमने सिर्फ अपना देखना है। मारवाड़ियों को देखिये पूरे देश में फैलकर धंधा कर रहे है और क्या ठाठ-बाठ की जिंदगी गुजर बसर कर रहे हैं ! उनके पास खेत होने की जरूरत भी क्या है? अपने ही गाँव में कितने लोग तो हैं जिनके पास खेत नहीं है और वे खेती नहीं करते। फिर भी हमसे लाख गुना अच्छे है।'[12] पूंजी के इस अंतर्विरोध को सामने लाने का काम 1990 के बाद कुछ रचनाकार ने किया है। क्योंकि किसानों का सवाल केवल कल्याणकारी

या कर्जमाफ़ी के जरिये तो हल नहीं होने वाला है। किसानों की समस्या को सुलझाने का सबसे सारतत्व तरीका भूमि का समान रूप से वितरण है, जिसको अभी तक किसी भी लोकतान्त्रिक प्रणाली से चुन कर आई हुई सरकारों ने पूरी तरह लागू नहीं किया है। हम सभी को यह समझना होगा कि यथार्थ को केवल अतिवाद कह कर किसान समस्या से पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता, इसके लिए यथार्थ को समग्रता में समझकर पहल करना होगा अन्यथा पहले हम किसान के वर्गीकरण में फसेंगे फिर उसकी समस्याओं से दो-चार होंगे, तब त्वरित कार्रवाई के तहत कुछ सुविधा दिया जाएगा, कुछ कर्ज़ माफी होंगी लेकिन समस्या ज्यों का त्यों विद्यमान रहेगा। किसान और उसकी समस्याओं को लेकर सदियों से यही होता आ रहा है, जो अभी भी कुछेक राज्यों को छोडकर बदस्तूर जारी है।

ग्रामीण सामाजिक संरचना में जातिवाद एक प्रमुख समस्या है। इस जातिवाद को सामंतवाद और ब्राह्मणवाद समान रूप से अपने हथियार के बतौर समाज में प्रयोग करते है। सामंतवाद और ब्राह्मणवाद जातिवादी संरचना में एक-दूसरे के सहोदर है। 'मराठों, महारों, चमारों, कुनबियों, माँग, मछुआरों और आदिवासियों की मिश्रित आबादी है। ब्राह्मणों ने गाँव से हटकर एक किलोमीटर उत्तर बांध के नजदीक अलग बनगांव बसा लिया है- शायद छूआ जाने के भय से। बोले तो, बांध, बाग, उर्वर खेत सब उनके या सम्पन्न मराठों के मगर मजदूर इस बनगांव के।'[13]

आज़ादी से पहले सामंतवादी संरचनाएं काफी मजबूत थी। बदलते समय के साथ उसकी अड़चने कुछ ढीली हुई लेकिन वह पूर्णतः खत्म नहीं हुई है, जबकि इसका खत्म होना बेहद जरूरी है। कई बार हम देखते हैं कि वह अपने पुराने रूप को बदलकर नए परिवेश और ढंग के साथ मौजूद है। 'फांस' उपन्यास के उपरोक्त कथन से कुछ बातें तो स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि समाज के अंदर मौजूद उसका सामंती और ब्राह्मणवादी चेहरा अपने नए आशियाने के साथ मौजूद है। यद्यपि यहाँ इसके बदलाव का द्वंद मुखर हुआ है, वह उपन्यास में भी है, 'छोटी और अशोक' के दोस्ती में वह सम्बन्ध दिखाई देता है तो उपन्यास के और भी अनेक स्थानों पर भी नजर आता है। 'सदियों के थोपे गए इन मूल्यों के तले दब कर रह गया है हमारा

सहजबोध, जैसे ये ऋणवादी मूल्य। शास्त्रों में दबाव बनाया जाता है कि कर्ज़ अदा किए बिना मरे तो मुक्ति नहीं होगी। जरूरत थी, कर्ज़ लिया, न दे पाएँ, जान दे दी, मरने के पहले तिल-तिल कर मरते रहे'।[14] ग्रामीण संरचना में समाज को पिछड़ा रखने में धार्मिक अस्थाओं के साथ अंधविश्वास भी अपनी भूमिका को निभाता है। किसान इन्हीं अवस्थाओं को निभाते-निभाते दम तोड़ देता है। विभिन्न आंदोलनों और शिक्षा का असर अब धीरे-धीरे ग्रामीण इलाकों में भी हो रहा है। 'फांस' उपन्यास में इसकी झलक कलावती के चरित्र में दिखाई देती है। वह अपने पिता शिबू से बहस करते हुये कहती है 'मुगलियों के सिर पर ही इज्जत का सारा बोझ क्यों?'[15]

किसान के यहाँ मौजूद ग्रामीण संरचना में जो पारिवारिक-सामाजिक संकट उपस्थित होता है, उसमे स्त्री के मुक्ति के स्वर बेहद कम होते है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को संस्कारों की बेड़ियों में बांध कर रखने की कोशिश होती है। अगर उसे अपनी पहचान को हासिल करना है तो वह इन सामाजिक बेड़ियों को तोड़कर ही हासिल होगा, जो मुगलियों से इज्जत के बनने बिगड़ने का ख्वाब देखा करते है। सामाजिक इज्जत पाने के लोभ में किसान को अपने और अपने परिवार दोनों की लड़ाई को लड़ना होता है। खेती-किसानी की जो सच्चाई है उसमे सामाजिक पद-प्रतिष्ठा जैसी समझदारी किसान का ज़्यादातर नुकसान करती है। इस नुकसान में अधिकतर वह किसान आते है, जो आर्थिक रूप से कमज़ोर होते हैं। कमजोर किसान के जमीन पर बड़े भू-स्वामी और महाजन लोगों की लालची निगाहें लगी हुई होती हैं, जो छोटे और खेतिहर किसान के अभाव का फायदा उसकी जमीन को हड़पने में उठाते है।

नब्बे के बाद के भारतीय समाज में सांप्रदायिकता और जातिवाद बड़ी समस्या के रूप में सामने आए। हम देखते हैं कि 1990 के बाद बाबरी विध्वंश और मण्डल कमीशन की सिफ़ारिशों के लागू होने के बाद समाज के अंदर विभाजन बहुत तेज़ हुआ। सांप्रदायिकता की वजह से जहां हिन्दू-मुसलमान के बीच धार्मिक ध्रुवीकरण तेज़ हुआ वहीं मण्डल कमीशन की सिफ़ारिशों के लागू होंने के बाद अगड़ा-पिछड़ा और दलित चेतना का बंटवारा भी समाज में हुआ। ऐसा नहीं है कि यह बंटवारा पहले नहीं था। जातिवाद की जड़े ब्राह्मणवादी व्यवस्था में सदियों से वर्णाश्रम के तर्क के

जरिये चली आ रही थी। जाति और संप्रदाय का यह संघर्ष और टकराव एकपक्षीय और सरल नहीं रहा बल्कि बहुत हद तक यह नए लोकतान्त्रिक समीकरणों के तहत होने वाले सत्ता का भी संघर्ष बना। 'कूकाल में हंटर' के पात्र तिवारी जी कहते हैं- 'सोशल जस्टिस.... सामाजिक न्याय... अब इसका मतलब किसी के लिए अवसर पाना है, जैसे तू। यादव के लिए इसका अर्थ कुर्सी पाना है और मुझे लगता है, जैसे यह बेघर करने का षड्यंत्र हो।'[16]

हम देख रहे हैं कि बराबरी का अधिकार मिलना था वह नहीं मिला, छोटी जाति के लोग बड़ी जाति के सामने बराबर के अधिकार में नहीं बैठ पाते थे और अब भी यह जारी है। कहीं-कहीं आर्थिक संरचना में बदलाव से हालात कुछ बदले हैं लेकिन सामाजिक संरचना में स्थिति जस की तस है। 'गंगादास पिछड़ा स्वीकृत... पर सत्ता और साधन की तराजू पर वह ग्राम का बाँट है। प्रधान जी किलों वाले बाँट है। पलड़े पर पासंग भी नहीं'[17] प्रधान जी जाति से यादव है, गंगादस नाई है। दोनों लोग पिछड़े वर्ग से है लेकिन दोनों लोगों के वर्गीय चरित्र भिन्न-भिन्न है, उनकी मांग और जरूरते अलग है। जैसे प्रधान जी अपनी धौंस जताते हुये अपनी स्थिति गंगादास के सामने रखते है 'हमारी तो दो सौ बीघे की धरती सूखी पड़ी है। दो साल की लागत से दस लाख मिट्टी में मिल गए। इस साल भी लागत नहीं लौटनी। खर्चें ज्यों के त्यों ही नहीं है, बल्कि बढ़ रहे है। गाँव में रहके अधपेट या पानी पीके भी दिन गुजार लो, यहाँ तो शहर में रहने वालों की तरह रहना पड़ता है.... खर्च करना पड़ता है... शहंशाही दिखानी पड़ती है। तुम लोग करते रहते हो – अकाल... हाय-हाय... भूख, बीमारी, काम, पैसा।'[18]

असंतुलित विकास ने समाज में एक बड़ा विभाजन पैदा किया है और जिसके पास पैसा आया उसको संवेदनहींन भी बनाया। इस दृष्टि से नए सभ्यता की चुनौतियाँ और आधुनिकता दोनों संदिग्ध मालूम पड़ती है। एक तबका जहां ज्यादा सुविधाभोगी हो रहा है वही दूसरा तबका ऐसा प्रतीत होता है कि भूख, अकाल, बेकारी, बीमारी से मरने के लिए ही वह ज़िंदगी व्यतीत कर रहा है और उसका जिंदगी के ऊपर कोई

अधिकार नहीं है। विकास के इस तरीके में आधुनिकता और समानता के प्रश्न बेतुके लगने लगते है। मुनाफाखोरी की व्यवस्था ने मानवीयता को अपने चपेट में ले लिया है और यह सब नव-उदारवाद के साम्राज्यवादी प्रभाव के तहत किया जा रहा है।

3.2 किसान जीवन की जमीन: सपने और संघर्ष

उदारवादी व्यवस्था ने 'ज़मीन' के प्रति नई पीढ़ी के किसानों का नजरिया बदला है, वह खेती नहीं करना चाहता है। किसान के बेटे-बेटी का खेती के प्रति आकर्षण कम हो रहा है। जयनन्दन की कहानी 'छोटा किसान' हो या महेश कटारे की कहानी 'कूकाल में हंटर' या फिर सुभाषचंद्र कुशवाहा की कहानी 'तिलेसरी' हो। इन सभी कहानियों ने यह जरुर इंगित किया कि खेती की जो लड़ाई है वह अंतिम पीढ़ी की लड़ाई है, आने वाली पीढ़ी मजदूरी की लड़ाई लड़ेगी।

'शहर में जा के कावनों काम-वाम ढूंढ। रोज-रोज के किचकिच से मन उदास राहत बा।' रामतीरथ क़हता है... काम कहाँ बाटे माई! देखत न बाड़ू कि एक-एक करके सब लोग बहरा से गाँव आवत जात बाड़े।'

'तिलेसरी चुप हो गई। हकीकत वह जानती थी। लोगों से सुन चुकी थी कि शहरों में अब काम मिलना मुश्किल हो रहा है। अब लोग अनजान लड़कों को घरेलू नौकर भी नहीं रखते। निर्माण कार्यों के लिए जितने मजदूरों की आवश्यकता होती है, उससे कई गुना मजदूर रोज़ शहर के चौराहे पर सुबह से ही काम की तलाश में खड़े रहते है।'[19]

किसान कर्ज़ और खेती के बर्बाद होने के बाद आत्महत्या करने को विवश है, जो आत्महत्या नहीं कर पा रहे वह मजदूरी करने के लिए अपने घर-गाँव से विस्थापित हो रहे है। उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में किसान के लिए जो काम छोड गए है उसमे एकमात्र उपाय मजदूरी ही है, वह भी अपने गाँव में नहीं बल्कि अनिंश्चितताओं से भरे शहर में। यह समय किसान के विस्थापन का है उसके जमीन के छिन जाने का है। आज पहले की तुलना में कृषि

योग्य जमीन कम हो रही है। 'सन् 1990 से 2000 के बीच कृषि भूमि 57,000 हेक्टेयर प्रति वर्ष कि दर से घटी थी तो 2000 से 2005 के बीच कृषि योग्य भूमि के घटने का दर 2,95,500 हेक्टेयर प्रति वर्ष रही'।[20] ज़मीन के कम होने के पीछे दो कारण है। पहला कारण है किसान का तंगहाली में जाना और उसके बाद तंगहाली से उबरने के लिए ज़मीन का बिक जाना, दूसरा कारण है सरकार द्वारा ज़मीनों का अधिग्रहण। नव-उदारवादी व्यवस्था ने किसानों को पीछे कर दिया है। जिन ज़मीनों पर किसान खेती करते थे, वही ज़मीन उदारवाद के उपरांत औद्योगीकरण के लिए प्रयोग में लाई जा रही है। सुभाषचंद्र कुशवाहा अपने एक लेख में लिखते है, 'किसानों के पास खोने को जमीन के अलावा और कुछ बचा नहीं है। भूमि अधिग्रहण, विकास का मूलमंत्र बना दिया गया है। ताल्लुकदारों और ज़मींदारों द्वारा औपनिवेशिक काल के बेदखली की ही तरह, जमीन हड़पने का काम, कुछ भिन्न तरीके से शुरू हो चुका है। औपनिवेशिक काल में किसानों ने अपनी समस्याओं के लिए लम्बा संघर्ष किया था। दक्षिण का मोपला विद्रोह, गुजरात का खेड़ा और अवध के किसान विद्रोहों ने लगभग समान काल में ब्रिटिश सत्ता और सामंतों के बीच खौफ पैदा किए। आजादी के बाद भी तमाम किसान विद्रोह देखने को मिले मगर किसानों की दशा और दुर्दशा में कोई सुधार नहीं हुआ।'[21]

आज के हालातों में किसानी की दशा को देखकर विष्णु खरे लिखते है 'फ्रेंच भाषा की एक कहावत है, बल्कि उसे एक वैश्विक सच्चाई कहना चाहिए, जो मुझे बहुत प्रिय है: 'कोई चीज जितनी बदलती है, उतनी-ही वह पहले-जैसी होती जाती है'। हमारा देश भी वैसा ही है। यदि आप मध्यप्रदेश के निमाड़-मालवा अंचल के सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'कालीचाट' पढ़ें या वहीं के सत्यनारायण पटेल के कथा-साहित्य को तो कुछ-ही पृष्ठों के बाद आपको लगने लगता है कि अरे, यह तो प्रेमचंद के पात्र आज के क्रूरतर ग्रामीण यथार्थ में और गहरे होकर लौट आए हैं।[22]

खेती-किसानी की वर्तमान स्थिति को देखने के बाद जो तथ्य सबसे पहले नजर आता है, वह है किसानों की ज़मीन पर कॉर्पोरेट की नजर। किसान की जमीनों पर जो कॉर्पोरेट गिद्ध दृष्टि है उसको लेकर कुछ रचनाकारो ने अपने साहित्य में जगह दी है।

यह रचनाकार ही देख रहे हैं कि गांव कितनी तेजी से बदल रहा है और उसको अपने साहित्य के जरिये सामने ला रहे हैं। नई पीढ़ी ने खेती से तौबा करना शुरू कर दिया है जिसका परिणाम है, खेत बेचना, जुआ-खेलने, खाने-पीने की संस्कृति का विकसित होना। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश इसके ज्वलंत उदाहरण हैं, जहां हरित क्रांति का सबसे ज्यादा ढिंढोरा पीटा गया था। आज पंजाब में जमीन बेचकर जीविका चलाने का प्रचलन चालू है। मध्यप्रदेश में भी इन्दौर के आसपास जिस तरह किसानों की जमीन खरीद कर बंगले बनाने का कारोबार तेज हुआ है वह पंजाब-हरियाणा के शहरों की कहानी को कहता नजर आता है।

इसे कहानीकार सत्यनारायण पटेल ने अपनी कहानी 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना' के द्वारा सामने लाने का प्रयास किया है। 'पढ़ी-लिखी में कोई बिरला छोरा ही होता जो खेती-बाड़ी के काम में रुचि दिखाता,'[23] यह बात कहानीकार कहानी में व्यक्त करता है। इस कहानी का मुख्य पात्र है डूंगा। डूंगा मजबूत इरादों वाला एक किसान है, जिसके पास कुल दस बीघे की खेती है और उसे खेती से बेहद लगाव है। डूंगा के सामने जब खेत के बेचने का सवाल आता है तो दिमाग के हर कोने से सवालों की झड़ी रिसने लगती है -'डूंगा खेत बेच देगा, तो काम क्या करेगा? रोटी कहाँ से कमाएगा? क्या तू धरती का बेटा, धरती के बेचे पैसे से रोटी खरीद कर खाएगा? क्या तू अपने भाई और बेटों सरीखे प्यारे बैलों को भी बेच देगा? नहीं बेचेगा, तो उन्हे खियाएगा क्या? खेत में मेहनत करे बगैर तुझे रोटी हज़म हो जाएगी? नींद आ जाएगी? कोई बेटा अपनी माँ का सौदा करके चैन से सो सकता है? तेरे मन में ये लालच कैसे आया? तुझे अपना ही नहीं, पवित्रा और पारबती के भी सपने पूरे करने है ही से गोदी की माँ धरती लेकिन-, उसे बेचकर नहीं।'[24]

डूंगा को भगवान पर कोई विशेष आस्था नहीं है, फिर भी वह ढपली, करताल, खंजड़ी और झांझ आदि बजाने, हर शाम शंख बजने के साथ ही मंदिर की ओर निकल जाता है। वह किसान है और अपने पेशे में से उसने धन कम धैर्य को ज्यादा हासिल किया है। फसल के बोने से लेकर पकने तक के धैर्य को वह अपने निजी जीवन में भी

उतार लिया है। खेतों को बेचने का दबाव बनाने वाले दलालों (टुल्लरों) से वह अनजान नहीं है। उसे खेत बेच कर लाखों रुपये बनाने का कोई लोभ नहीं, जबकि पूंजीपति दलाल और उसके रिश्तेदार पैसे के जरिये जीवन के सुनहले पक्ष के अनगिनत सपने दिखाते हैं। उसकी भी आंखों में सुनहरे तारे झिलमिलाते है, लेकिन वह अपने देखे हुये सपने को अपनी मेहनत से सपने पूरा करना चाहता हैं। खेत में होने वाले फसलों से वह अपने सपनों को पूरा करने का ख्वाब देखता है। न कि अपनी 'धरती माँ' को बेचकर। कहानीकार कहता है, 'डूंगा की आंखों में झिलमिलाते तारे केवल आसमान के तारे नहीं थे, एक सपना था। सपना भी क्या? एक लुगड़ी का सपना! छींटदार। सितारे टंकी लुगड़ी का सपना।'[25]

सरकार की नीतियों ने किसान को अधिक बर्बाद किया है। उन नीतियों का प्रत्यक्ष लाभ जो दलाल या बिचौलिया है, वही कमा रहा है। किसान अपनी जमीन को गंवाकर बेदखल भी हो रहा है और विस्थापित भी, और इस विस्थापन का उचित लाभ किसान को नहीं मिल पा रहा है। एक सरकार के सपने में किसान केवल अन्न का उत्पादन करने वाला मजदूर बनकर रह जाता है, जबकि सरकार की ऊटपटाँग नीतियों को लागु करने के लिए जो बिचौलिया या दलाल समूह खड़ा होता है, वह मलामाल हो जाता है। इस स्थिति का अवलोकन करते हुये कहानीकार डूंगा के मध्यम से कहता है कि- 'डूंगा ऐसे समय और महान देश के गांव का किसान था, जिसमें डूंगा तो क्या? उसके जैसे गांव के किसी भी रामा बा या सामान्य किसान का पेट भरने के अलावा कोई सपना देखना और मेहनत की फसल बेचकर जीते-जी सपना पूरा करने का सोचना गुनाह से कम न था। ऐसा करने का मतलब सरकार और उसकी नीतियों की खुल्लम खुल्ला तौहीन करना था। हालांकि सरकार इतनी गेली नहीं थी, न उसकी नीतियां इतनी ढीली-ढाली थी कि डूंगा जैसे धोती छाप लोग अपने सपनों को पूरा कर लेते। सरकार ने बहुत ही विकसित और ताकतवर देशों की सरकारों की मंशानुसार जो नीतियां बनायी थी, उन्हें समझना डूंगा जैसे धोती छाप गांवदियों के बस का तो था ही नहीं। लेकिन सरकार के भीतर-बाहर बुद्धि की खाने वालों का दावा करने वालों के लिए भी, बगैर चन्द्रयान के चांद पर जाने का सपना देखने जैसा था।'[26]

ऐसी स्थिति में डूंगा या उसके जैसे हाड़तोड़ मेहनत करने वाले अन्य किसान का भी क्या सपना होता है, इसे देखा जाना चाहिए और वह उसी सपने को पूरा करने के लिए जीवन भर संघर्ष करता रह जाता है। डूंगा का भी एक मनपसंद सपना है 'लुगड़ी का सपना'। अपनी माँ को लुगडी पहनाने से लेकर पारबती तक और अब पवित्रा तक। उसकी इच्छा है कि वह पबितरा के बूढ़ी हड्डियों को आराम दें और पवित्रा के परनाने का सपना। पवित्रा की आंखों में अच्छे घर और दूल्हे का सपना एकदम जो टीवी की धारावाहिकों में आते है। सपना देखन कोई बुरी बात तो है नहीं, लेकिन एक किसान अपने जीवन काल में उस सपने को कम ही पूरा कर पता है। फिर भी जीते-जी वह उसे पूरा करने की जिद में लगा रहता है। अपने मेहनत की फसल से पूरा करने की उसकी जिद ही उसे और उम्मीद देती है। 'जब तक खेत बचा है तब तक खेती करने की इच्छा बची है। अपनी मेहनत की फसल के दम पर लाल छींटदार लुगदी लाने का सपना बचा है। जब तक सपना बचा है तब तक बहुत कुछ बचा है।'[27] परंतु एक कॉर्पोरेट राज्य में किसान के सपने का सरकार की नजर मे क्या तोल? डूंगा या उसके जैसे किसानों के सपने सरकार की नजर में क्या थे यह नहीं पता। लेकिन गांव के टुल्लर की नजर में यह सपना एक 'गेलचौदापना' था। उसके दिमागी फितूर में कोई उलझाव नहीं था। डंके की चोट पर डूंगा को कहता- 'वह चूतिया है।' दलालों की जमात को सरकार और उसके कारिंदे कॉर्पोरेट के दबाव में किसानों से जमीन छीनने के लिए यही सब सिखा-बता रही है और यह बहुतेरे किसान की व्यथा हैं। दलाल बता चुका है कि दूसरे किसानों ने तीस लाख में खेत बेच दिये तो 'डूंगा के दिमाग में वही सरबल रहा-तीस लाख कितने होते होंगे ?.... अगर बैलगाड़ी में चारा, बगदा की तरह नोट भरूं, तो गाड़ी कहां तक भरा जायेगी? आधी-आधी मूंडियों तक तो भर सकती है। और अगर तीस लाख की खन्डार बनाऊं, तो कितनी लम्बी-चौड़ी और ऊंची बनेगी? दो बीघा के चनों की खन्डार बराबर तो बनेगी ही । किशोर के दो बीघा के तीस लाख, तो मेरे दस बीघा के कितने होंगे !.... पूरी बैलगाड़ी भर जायेगी । लेकिन एक बैलगाड़ी भर नोट में कितनी बैलगाड़ी भर लुगड़ी आयेगी । फिर मैं, मेरी पड़ोसन्

सम्पत्त काकी को ही नहीं, परगांव की भी कई सम्पत्त काकियों, पारबतियों और पवित्रियों को लुगड़ी दे सकूंगा। धरती मां की हरेक बेटी को लाल छींटदार लुगड़ी ओढ़ा दूंगा।'[28] यह हर उस कहानीकार का भी सपना है, जो अपनी कहानियों में किसान जीवन की त्रासदी को अंकित कर पा रहे है। किसान की तरह वह सिर्फ अपनों का तन ढंकने की सोच नहीं रखता, पूरे समाज के बारे में सोच रहा है। उसकी लुगड़ी का सपना गांव-गिरांव सबके लिए है। डूंगा और उसके जैसे किसान अपने खेतों को पैसे के लिए नहीं बेचना चाहता।

डूंगा देखता है कि उसके चारों ओर का वातावरण भयावह है, अब कुछ भी पहले जैसा नहीं रहा। समाज के जीवन जीने का तरीका बदल चुका है। अब जीवन में बहुत कुछ उसकी जरूरतों के अनुसार नहीं हो रहा है, बल्कि बहुत कुछ अब सामाजिक हैसियत तय करने के लिए हो रहा है और कॉर्पोरेट संस्कृति ने इस बीमारी को गाँव-गाँव तक पहुंचा दिया है। सामाजिक हैसियत के तहत ही डूंगा के ऊपर बीवी-बेटी का दबाव है। वह यह भी देख रहा है कि आसपास के लोगों ने भी अपने खेत बेच कर उसके पैसे से ऐश करना शुरू कर दिया है। डूंगा देख रहा है कि 'खेत साले के भी बिक गये थे। उसने सपनों में भी न सोचा था कभी, इतने रुपए मिलेंगे। पर जब मिल गये तो करे क्या इतने रुपयों का? घर बना लिया। कार खरीद ली। थैला भरकर बैंक में रख दिया और क्या करता? इससे ज्यादा उसे ही नहीं, कइयों को नहीं सूझा।'[29]

उसकी बीवी पारबती कहती है- 'और केइं पूरी उमर बीती गयी गारो खोदते-खोदते। ढंग की एक लुगड़ी भी ना लय पाया । बुढ़ापा में तो गार के सुधार लो।'[30] जब दलालों का दबाव बढ़ने लगा तो वे कहते हैं- 'बीस लाख बीघा तक दे सकते हैं। सोचो, दस बीघा का कितना रुपया होगा..... वारा न्यारा हुई जायेगा। चाहो तो लुगड़ी बनाने का कारखाना खोल लीजो। सौ-दौ सौ लुगड़ी रोज बांटोगा तो भी कम नी पड़ेगी।'[31] सत्यनारायण पटेल की कहानी का नायक डूंगा आत्मबल का मजबूत

धैर्यवान किसान है। घर-परिवार का दबाव, दलालों की धमकियां और भीतरघात इन सबसे वह बचकर निकलता है। कहानी के अंत में वैश्वीकरण का वर्तमान आर्थिक बुलबुला अचानक फूट पड़ता है। शेयर मार्केट धराशायी हो जाता है। उसकी जमीन खरीदने की योजना बनाने वाली मुम्बई की कम्पनी दिवालिया हो जाती है, उसके पैसे डूब जाते है और डूंगा की जमीन का सौदा नहीं हो पाता। सत्यनारायण पटेल ने समाज, परिवार और दलालों के दबाव को झेलते डूंगा के स्वामिभान की रक्षा, सर्वग्रासी आर्थिक तंत्र के खोखलेपन को प्रकट करते हुए की है, यह इस तरह की कहानियाँ कथा-साहित्य का सकारात्मक पक्ष है और हमें उम्मीद बंधाती है कि कथा साहित्य का जमीनी रिश्ता बचा ले जाने में ऐसे ही कहानीकार सफल होंगे।

समकालीन दौर में नव-उदारवादी नीतियों के बाद जो नई समस्याएँ ग्रामीण इलाकों में खेती किसानी में पैदा हुई है उसको लेकर सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'कालीचाट' भी बहुत गहरे सवाल उठाता है। उपन्यास में खेती-किसानी के बहुचर्चित मुद्दों के बारे में नए सिरे से पड़ताल की गई है। उपन्यास में प्रतिरोध को भी शामिल किया गया है, प्रतिरोध में किसान अपनी तमाम बदहाली के बावजूद सपने देखता है 'तीनों अलग-अलग सपनों में थे, लेकिन तीनों के सपने एक ही धुरी के आसपास घूम रहे थे, वह धुरी था पानी। जहां तक सोच सकता था, वहाँ तक सोच रहा था।'[32] किसान अपने सपनों में हर तंगहाली के बावजूद रिस्क उठाता है 'रिस्क तो उठानी पड़े। पिछले साल मैंने पाँच पैकेट कपास का लगाया था। एक क्विंटल कपास भी नी हुओ। किसाणी को काम ही रिस्क को है जगदीश।'[33] यह कल्पना या भावुकता कहानियों से परे हमारे आसपास के किसानों की कहानी है, जो अपने यथार्थवादी स्वरूप में कहानी-उपन्यास के बाहर भी मौजूद है। कालीचाट मालवा में उस पत्थर-चट्टान को कहते हैं, जो कुआँ खोदते वक्त आ जाये तो फिर उसे आसानी से तोड़ा नहीं जा सकता। किसान की जिन्दगी भी इसी कालीचाट की तरह की हो गई है। वह जितना ही उसको तोड़ने का जतन करता है, मेहनत करता है, उतना ही वह घिरता जाता है नव-उदारवाद के चक्रव्यूह में। किसान अपनी तरफ से जी तोड़ कोशिश करता है, पर एक सीमा के बाद उसका सब्र भी जवाब देने लगता है। इधर खेती को जिन

नए-नए तरीकों ने महंगा बनाया है, उनमें महंगे खाद-बीज और ट्रैक्टर के साथ हर खेतों तक अपना पानी होने की बातें भी है।

किसान ज्यादा-से-ज्यादा पानी की चाह में साल-दर-साल अपने खेतों पर महंगे ट्यूबवेल या विस्फोट के जरिए कुएँ खोदने या उसे गहरा कराने के लिये महंगे कर्ज लेते हैं। कई बार पानी निकल जाता है और कई बार नहीं निकलता पर दोनों ही स्थितियों में इसके सौदागरों का तो फायदा ही है। लिहाजा परम्परागत तरीकों की उपेक्षा करते हुए ज्यादातर किसानों को किसी भेड़चाल की तरह इसी तरफ चलाया जा रहा हैं। अकेले मध्य प्रदेश में बीते 25 सालों में पानी की लगातार होती कमी के चलते यह कारोबार करीब 10 गुना से ज्यादा बढ़ा है।

कालीचाट के रचनाकार सुनील चतुर्वेदी पेशे से भू-विज्ञानी हैं और मध्य प्रदेश में बीते लम्बे समय से पानी-आन्दोलनों से उनका जुड़ाव रहा हैं। 'देवास रूफ वाटर हार्वेस्टिंग और रेवा सागर तालाबों की मुहिम में उनकी रचनात्मक मौजूदगी के साथ पानी बचाने की तकनीकों पर उनकी किताबें भी आ चुकी हैं। अपने गाँव में पानी के लिये काम करते हुए आसपास के किसानों की सच्ची हकीकत इस उपन्यास के जरिए उकेरी गई है। यह उपन्यास बीते 20-30 सालों में मालवा-निमाड़ इलाके में किसानों की दुर्दशा को, खासतौर पर पानी के नाम पर सरकारी और बाजारी खैरख्वांहो के किसानों को लूटने के नए तरीकों को हमारे सामने परत-दर-परत खोलता है। इसमें गाँव के साहूकार, पटवारी, बैंक से लगाकर सरकारी अधिकारी और उनकी नीतियाँ सब शामिल हैं, किसी गिरोह की तरह'।[34]

किसान के सामने पहले की तुलना में अब नई समस्या पैदा हो रही है तो वह उससे संघर्ष भी कर रहा है। इसी संघर्ष की राह में वह पानी की कमी को भी पूरा करने की कोशिश करने लगता है और अपने हालातों से लड़ने लगता है। युनूस, सीताराम आदि पात्रों के जरिये रचनाकार यह दिखाने की कोशिश में है कि कैसे पानी की कमी को भी एक सपने की तरह बेचा जा सकता है, ग्रामीण किसानों के सामने

मौजूद इस संकट को सरकार और पूंजीपति मिलकर कैसे इसका लाभ लेते हुये मुनाफे का निर्माण करते है, यह उपन्यास में खुलकर सामने आया है।

यह सच है कि आज पानी का संकट है और यह संकट विश्वव्यापी है लेकिन यह भी सच है कि इस संकट को पूंजीवादी हालातों और कार्यशैली के तरीकों ने पैदा किया है। पानी के संकट के बाद हम देखते हैं कि आज पानी के व्यापार में खेत से लेकर घर तक सब बड़ी मल्टीनेशनल कंपनियों ने अपनी पहुँच बना ली है और पानी के संकट को भी मुनाफे का बड़ा व्यापार बना दिया है। खेती-किसानी में बीज से लेकर पानी तक के जितने भी संकट है, उनको पूंजीवाद हर समय संसाधन की कमी का बहाना देकर कमोडिटी को पकड़ता है और ट्राजेड़ी ऑफ कॉमनस के जरिये अपने हाथों में ले लेता है। पूंजीवाद ने दुनिया भर के पानी और बीज के संकट को इसी तरह अपने कब्जे में ले लिया है। आज पानी के संकट की स्थिति यह है कि फिलिस्तीन के गाज़ा में साफ पीने लायक पानी का मिलना एक बड़ा लग्जरी है। 'वैसे ही वह दिन आने वाला है जब इस्तेमाल के लिए पानी नहीं रहेगा। यह बहुत दूर की बात नहीं है। हालिया सर्वेक्षणों के मुताबिक दक्षिण अफ्रीका के केपटाउन में यह स्थिति आने वाली है। भारत के भी कम से कम एक बड़े शहर बेंगलुरु में यह संकट पैदा हो सकता है। केपटाउन ने बेहतर संरक्षण उपायों के जरिए पानी के बिना वाले दिनों को अप्रैल से टालकर जुलाई में पहुंचाने में सफलता हासिल की है। वहां हर व्यक्ति के लिए प्रतिदिन 50 लीटर पानी के इस्तेमाल की सीमा तय कर दी गई है। अगर इस साल मई में वहां ठीक बारिश नहीं होती है तो लोगों को पानी के लिए लंबी कतारों में खड़ा होना पड़ेगा। भारत में बेंगलुरु जैसे जो शहर जल संकट का सामना कर रहे हैं, वहां इस तरह की कोई व्यवस्था अब तक नहीं बनी है। इससे पता चलता है कि जल संकट को लेकर हमने व्यावहारिक रुख नहीं अपनाया है। बल्कि हम अब भी इस संकट को लेकर एक भ्रम का शिकार हैं और हमें लगता है कि इसका समाधान खुद ही हो जाएगा। केपटाउन के संकट से भारत को सबक लेना चाहिए। क्योंकि भारत के कई शहरों में यह संकट पैदा होने वाला है। यह बात भी हमारे ध्यान में रहनी चाहिए कि लोक संसाधनों का इस्तेमाल हमारे समाज की असमानता को भी दिखाता है। भारतीय शहरों में गरीब लोगों के लिए हर दिन पानी का संकट है। उन्हें हर रोज लाइन लगाकर और ठीक-ठाक पैसे खर्च करके पानी लेना होता है। इसकी मात्रा न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने

लायक भी नहीं होती। अमीर लोगों के यहां नलों से पानी आता है, टैंक में भरा जाता है और इनके पास इसके दुरुपयोग की काफी गुंजाइश होती है। पानी के बदले जो पैसा उनसे लिया जाता है, वह पानी की बचत की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए पर्याप्त नहीं है। उनमें इस बात का अपराध बोध भी नहीं होता कि वे बेशकीमती संसाधन का दुरुपयोग कर रहे हैं।'[35]

यह तो हो गई शहरों की स्थिति लेकिन ग्रामीण इलाकों में यह स्थिति भयावह संकट के रूप में है। 'रोज-रोज पानी भर पाना भी एक युद्धाभ्यास जैसा है, क्योंकि शरीर गीला और गला तर करने के लिए गाँव में सूखने से बचे कुछ ही हैंडपम्प हैं, जहां बारी और मारामारी के लिए उद्यत एक भीड़ हमेशा ही जुटी रहती है। लगता है पानी के लिए युद्ध का आरंभ इसी गाँव से होगा।'[36] सामंती चरित्र वाले समाज में कुएं पर पानी भरने जाना भी एक जोखिम भरा कार्य है, जिसको अधिकतर ग्रामीण औरतों को करना पड़ता है। 'ज़्यादातर घरों में कुएं से पानी लाना औरतों का ही काम था।'[37] पानी की कमी ने ग्रामीण इलाकों में सामाजिक संरचना को भी बदला है। जिस भी ग्रामीण के पास कुआं है, वह गाँव में अपने रौब को दिखाता रहता जैसे, ' गांव में कुल जमा तीन कुएँ थे। कुएंवाले अपने आप को गाँव का मालिक समझते। वो किसी से भी बेगार कराणे में जरा नहीं हिचकते। "कोठियाँ भरे जड़ तक फालतू बैठी-बैठी कईं करे, ज़ाक कपसा में निंदई कर दे। ए छोरा जरा कुल्हाड़ी ले के ई चार छह लकड़ी तो फाड़ दे।"[38]

हमारा समाज अनेक तरह के शोषणकारी तत्वों से लैस है जो समाज को और पीछे ले जाने के लिए निरंतर प्रयासरत रहते हैं। महिलाओं के संबंध में उनको पुरुषों से कमतर समझना ग्रामीण पितृसत्ता वाले समाज में आज भी जारी है। 'जो सुनी है उस हिसाब से तो वा औरत ही गलत है। नी तो संझा घड़ी एकली कुआँ पे कईं करने गई थी!'[39]

'जल के इस्तेमाल के मामले में घरेलू उपयोग की बड़ी भूमिका नहीं है। लेकिन कृषि की है। 1960 के दशक में हरित क्रांति की शुरुआत के बाद से कृषि में पानी की मांग बढ़ी है। इससे भूजल का दोहन हुआ है जल स्तर नीचे गया है। इस समस्या के समाधान के लिए पर्याप्त उपाय नहीं किए जा रहे हैं। जब भी बारिश नहीं होती तब संकट पैदा होता है। नदियों के पानी का मार्ग बदलने से भी समाधान नहीं हो रहा। नर्मदा नदी पर विरोध के बावजूद सरदार सरोवर बांध और अन्य बांध बनाए गए। इसके बावजूद नर्मदा का जल स्तर नहीं बढ़ा, नीचे ही गया है। कई बार तो इतना पानी भी नहीं होता कि आश्रित शहरों में इसकी आपूर्ति हो सके। कृषि के लिए इस्तेमाल की बात तो दूर है। इसके बावजूद नर्मदा का पानी अहमदाबाद से गुजरने वाली साबरमती में ले जाया गया है। अहमदाबाद में इस नदी पर रिवर फ्रंट बनाकर इस शहर के लोगों की पानी की प्यास बुझाने का काम किया गया है।'[40]

शहर को चकाचक और विकसित दिखाने की मोह ग्रस्त राज्य और केंद्र सरकारें 'रिवर फ्रंट' में तो लबालब पानी छोड़ देती हैं, लेकिन ग्रामीण इलाकों में खेत के पटवान के लिए पानी को नहीं उपलब्ध करा पाती है। ऐसी स्थिति वर्तमान समय में गुजरात के किसानों की हो रखी है। गुजरात के चमचमाते शहर के रिवर फ्रंट में तो पानी है, लेकिन वहीं से चंद किलोमीटर दूर स्थित किसानों को बूंद भर पानी नसीब नहीं हो रहा है। यह जल संकट लोकतान्त्रिक सरकारों द्वारा निर्मित है। किसान ने तो फसल की बुवाई कर दी लेकिन उसके बाद खेत सींचने के लिए पानी नहीं है। अब सवाल है कि पानी के बगैर फसल को कैसे बचाया जाए। जिन इलाकों में पानी के ऐसे संकट पैदा हो रहे हैं, वहाँ महंगे दामों पर पानी को उपलब्ध कराने का रोजगार शुरू हो गया है। गुजरात, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के कई इलाकों में ऐसे रोजगार पनपे है जो किसानों के संकट को अपने मुनाफे के लिए पूंजी में बदल रहे है। यह जल संकट जहां किसानों के लिए आत्महत्या का सबब बन रहे हैं, वहीं पानी कारोबार करने वाली कंपनियों के लिए निश्चित तौर पर यह नए अवसर को बना रहे है। यह अवसर ट्यूबवेल से लेकर पानी टैंकर माफिया तक के लिए है।

भारत में 1947 के दौरान प्रति व्यक्ति 6,042 क्यूबिक मीटर पानी उपलब्ध था, जो कम होते-होते 2001 में 1,816 क्यूबिक मीटर हो गया। 2011 में यह और घटकर 1,545 क्यूबिक मीटर और 2016 में 1,495 क्यूबिक मीटर रह गया। इसकी प्रमुख वजह तेजी से बढ़ती आबादी और बरसात के पानी का बेहतर प्रबंधन न होना है। 65 फीसदी बरसाती पानी समुद्र में बेकार चला जाता है। शहरीकरण की वजह से बढ़ता क्रांकीट का जाल और सिंचाई के लिए ट्यूबवेल पर बढ़ती निर्भरता से भी जमीन के नीचे पानी सूख रहा है। रिसर्च पेपर Water for India in 2050: first-order assessment of available options के मुताबिक 2050 तक प्रति व्यक्ति पानी उपलब्धता 1150 क्यूबिक मीटर से कम रह जाएगी। अप्रैल 2016 में 5 लाख लीटर पानी लेकर वाटर ट्रेन महाराष्ट्र के लातूर पहुंची, जहां करीब 24.5 लाख लोग पानी की एक-एक बूंद के लिए तरस रहे थे। सूखे की चपेट में आए मराठवाड़ा में तब तक 89 किसान आत्महत्या कर चुके थे। पानी का भारत जैसे देश में जहां करीब साढ़े सात करोड़ से ज्यादा लोगों को पीने का साफ पानी उपलब्ध नहीं है, वहां बोतल बंद पानी का कारोबार सालाना 20 फीसदी से भी ज्यादा रफ्तार से बढ़ रहा है और 2018 तक इसके 16,000 करोड़ रुपए तक पहुंचने का अनुमान है। पानी के इस संकट का हल निकालना जरूरी है।[40]

'सुनील चतुर्वेदी जो पेशे से भू-वैज्ञानिक है वे बताते हैं कि पहली बार नब्बे के दशक में जब गाँव में पानी को लेकर काम शुरू किया, तो लोगों को पानी का मोल समझाया। अब लोग पानी के महत्व से परिचित तो हैं, पर वे पानी के नाम पर कंपनियों द्वारा छले जा रहे हैं। अपने काम के दौरान गाँव और किसानों को बहुत नजदीक से देखने का मौका मिला तो लगा कि इनकी त्रासदियों का कोई अन्त नहीं। कुछ किरदारों के साथ शुरू हुआ सफर उपन्यास लिखा ले गया, पर हाँ, बहुत त्रासद स्थितियाँ... यही स्थितियाँ हैं चारों ओर।'[41] उन्होंने बताया कि दरअसल ये लोग उन किसानों के सपनों के भी सौदागर हैं, जो खेत पर छलछलाते पानी के झूठे सपने दिखाकर अन्ततः उन्हें इस हद तक बर्बाद कर देते हैं कि कई किसान आत्महत्याओं के

रास्ते जाने को मजबूर हो जाते हैं। अब भी समय है की हम इन काले सौदागरों की साजिशों को समझें। इससे भी बड़ा सवाल यह है कि पानी के स्थायी निदान पर अब हमें फोकस करते हुए नए तथा वैज्ञानिक नजरिए से सोचने की भी दरकार है, ताकि पानी के नाम पर पनप रहे ऐसे धोखे और कारोबारों पर लगाम लगाई जा सके। यह उपन्यास दलाल सौदागरों के साथ पूरे भ्रष्ट तंत्र का भी पर्दाफाश करती है। कालीचाट उपन्यास में पानी के नाम पर कई तरह की साजिशें की जा रही हैं, उसका पर्दाफाश करने की कोशिश की गई है। ग्रामीण और खेतों की प्यास बुझाने के नाम पर करोड़ों रुपए सिर्फ बोरवेल, हैण्डपम्प, टैंकर, बड़ी परियोजनाओं और पाइपलाइन से नदी-जोड़ जैसे अस्थायी संसाधनों पर खर्च किये जा रहे हैं, लेकिन इन मामलों में कितना सुधार हो रहा है? क्या बुनियादी परिवर्तन हो रहा है? इसकी तरफ सरकार का ध्यान न के बराबर है। नाबार्ड के इन आकड़ों पर गौर करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि सरकारें अब केवल आकड़ें जारी करने के लिए रह गई है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार पानी की मौजूदा स्थिति को देखा जाना चाहिए। केंद्रीय जल संसाधन मंत्रालय ने देश के प्रमुख 91 जलाशयों में जल स्तर की ताजा रिपोर्ट जारी की है। इसके मुताबिक इन जलाशयों में फिलहाल 48.42 बीसीएम (अरब घन मीटर) जल का संग्रहण आंका गया है, जो सात महीने पहले यानि अक्टूबर के आखिरी में 115.457 अरब घन मीटर था। इस तरह इस दौरान 67.37 बीसीएम यानि 58 फीसदी से ज्यादा पानी के स्तर में गिरावट दर्ज की गई है। केंद्रीय जल आयोग के अनुसार देश के हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु जैसे राज्यों में तेजी से जल स्तर में गिरावट देखी जा रही है। इतना ही नहीं, यहां के प्रमुख जलाशयों में पिछले साल की तुलना में जल भंडारण कम दर्ज किया गया है। वहीं पंजाब, राजस्थान, झारखंड, ओडिशा, पश्चिम बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में फिलहाल स्थिति सामान्य बनी हुई है।[42]

पानी की कमी के संदर्भ में जरूरी है कि भौगोलिक और भूगर्भीय स्थितियों का अध्ययन किया जाए, जो कि अभी किसान को ध्यान में रखकर नहीं हो रहा है।

सदियों से हमारी नदियों और कुओं से सहज रूप में खेतों को मिलने वाले पानी की जगह अब गाँव-गाँव सैकड़ों की तादाद में बोरवेल हैं। भूजल के लगातार अन्धाधुन्ध दोहन से इसमें भारी गिरावट आ रही है। चिन्ता भूजल दोहन को कम करने और बारिश के पानी को सहेजने, धरती की रगों तक पहुँचाने और परम्परागत तरीकों की पुनर्वापसी की दिशा में होनी चाहिए, लेकिन इससे उलट हमारी चिन्ताओं के केन्द्र में अब भी मूल मुद्दा कहीं नहीं है। हालत को सुधारने के बजाए दिनोदिन स्थिति गंभीर होती जा रही है। सूखे और अकाल जैसे प्रकृतिक आपदा से निबटने के लिए सरकार को सूखाग्रस्त इलाकों में सबसे पहले तालाब और पानी के दूसरे अन्य स्त्रोत को पुनर्जीवित करने के गंभीर प्रयास करने होंगे। बारिश के पानी के संचयन की उचित व्यवस्था के बगैर हालत को नहीं सुधारा जा सकता। विकास के नाम पर जल स्त्रोतों पर अवैध निर्माण की समझ से सरकार को बचना होगा। क्योंकि नदी या मौसम के सहारे खेती करना दुष्कर और जोखिम भरा फैसला है। इस स्थिति को किसान भी भाँप रहा है... 'नदी अब हमारी सहोदर कहाँ है, मेवा। वह तो बांध वालों की रखैल बन गई है। उनहीं की मर्जी से चढ़ती है और उनहीं की मर्जी से उतरती है। अगर नदी का ही रवैया ठीक रहता तो हमे ये दिन थोड़े देखने पड़ते। वह अब हमारे किसी काम की नहीं। डूबने भर का पानी होता तो पहले वहीं जाता और तुम्हारी तरह गमछा नहीं, बल्कि धोती किनारे पर छोड़ कर कूद जाता।'[43]

ग्रामीण किसान के भीतर संघर्ष का जज्बा ज्यादा होता है। वह हर तरह की कमी-कमजोरी और बदहाल हालातों के बीच भी जीवन के लिए उम्मीद नहीं छोड़ता। इसके बावजूद किसान की आँखों का पानी सरकार और उसके तंत्र को नहीं दिखाई देता है। आज भारतीय किसान के सामने सबसे बड़ी चुनौती बीज को लेकर है। सरकार और किसान के बीच संवादहीनता से कोई भी ठोस नीति का निर्माण नहीं हो रहा है बीज की समस्या को लेकर। बीज को लेकर जो सरकारी संवेदनहींनता है उसकी वजह से ग्रामीण इलाकों और कस्बों में एक दूसरी व्यवस्था भी पैदा हो रही है जो पानी के संदर्भ में निर्मित हुई है। निजी कंपनियाँ ग्रामीण इलाकों में दस्तक देने लगी हैं। अपना माल बेचने के लिए निजी कंपनियों ने ग्रामीण बेरोजगार युवकों को पकड़ा और उन्हें कमीशन पर पैसा देने का लालच दिया। यही युवक संबंध और दबाव के जरिये बीज और खाद को गाँव में बेचें। गाँव के लोगों ने संबंध की वजह से जैसे-तैसे

पैसे तो चुका दिये, लेकिन इसके जरिये कंपनियां युवकों और साहूकारों के सहारे किसान के ज़मीन की तरफ नजरे बढ़ाने लगीं। यह अधिकतर उन गांवों के हाल है जिन्हें अभी तक स्पेशल इकनॉमिक जोने में शामिल नहीं किया गया है, जिन्हें शामिल किया गया है उनकी बदहाली की कहानी कुछ अलग है। अनीता भारती की कहानी 'बीज बैंक' में इसी तरह की परिघटना का वर्णन है। सभी जानते है कि अच्छी फसल के लिए बीज का बढ़िया होना अति आवश्यक है। 'मोहन बहुराष्ट्रीय बीज कंपनी 'सुपर्व बीज कम्पनी' का इलाके का पप्रमुख एजेंट बन गया। कम्पनी एजेंट के रूप में वह गाँव -गाँव घूमकर किसानों को पैदावार बढ़ाने की नई-नई तकनीक तथा औजारों की जानकारी देने लगा। वह गाँव वालों को यह भी समझाता कि अच्छी फसल के लिए अच्छे बीजों का होना कितना अहम है। वह गाँव के लोगों से उनकी जरूरतें पूछता और यह जानकारी कंपनी तक पहुंचाता। इस जानकारी का इस्तेमाल कंपनी अपनी योजनाओं को मजबूत करने में करती थी। धीरे-धीरे कंपनी ने मोहन के जरिये गाँव में अपनी जड़े जमानी शुरू कर दीं।'[44]

जिस तरह खेती के नए दौर में किसान को पानी के लिए संघर्ष करना पड़ता है, वैसे ही किसान को बीज के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। किसानों से परंपरागत बीज छीन कर हाईब्रीड बीजों पर अनुदान दिया जा रहा है। खाद की किल्लत पैदा कर सहकारी समितियों के जरिये खाद देने का नाटक किया जा रहा है और एक बोरी यूरिया के लिए किसान दिनभर लाइन लगाये खड़े रहते हैं। कृषि केन्द्रों पर न मिट्टी की जांच की सुविधा है और न खेती-किसानी के बारे में नवीनतम जानकारी देने की कारगर व्यवस्था। गाँवों में 'किसान मित्र' या इस तरह की सरकारी परियोजनाओं का गठन भी एक मजाक ही है। इसके जरिये ग्रामीण इलाकों में भी लूट-खसोट की संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है और यह योजना केवल कुछ को उपकृत करने वाली योजना है। गांवों में ऐसी योजनाओं की बाढ़ आई हुई है, जिनमे खेती-किसानी के अतिरिक्त अन्य तरह के लालच किसानों को दिये जा रहे है। बताया जा रहा है कि आप मुर्गी पालन, मवेशी पालन कीजिये, परंतु खेती किसानी में किसानों को रोक कर रखने और उनको गांव में काम देने, पलायन रोकने के लिए बुनियादी विकास अब भी दूर की कौड़ी नजर आते है। योजना बनाने वाले नीति निर्माता जितना ख्याल शहरी

विकास का रखते है, उतनी चिंता वह ग्रामीण इलाकों के लिए नहीं करते है। भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया आसमान गति से तेज़ है और वही ग्रामीण निवासी अभी भी बुनियादी सुविधाओं से दूर है।

संजीव के उपन्यास 'फांस' के अंतिम भाग में पात्र 'विजयेन्द्र' द्वारा 'मंथन' नाम से कृषि और कृषकों पर केन्द्रित एक आयोजन किया जाता है। इस आयोजन में अपने-अपने ढंग से किसानों की बेहतरी के लिए काम कर रहे लोगों और संगठनों के विभिन्न लोग मौजूद होते हैं एवं अपने कार्यों और अनुभवों को सामने लाते हैं। इस मंथन में मिट्टी की क़िस्मों, वैज्ञानिक ढंग से मधुमख्खी पालन, मुरगु पालन, बकरी पालन, फलों का उत्पादन, विकसित हाईब्रीड धान, बीटी कॉटन के भयावह परिणाम, देशी बीजों के अपेक्षा हाईब्रीड बीजों को मिलने वाला सरकारी संरक्षण, पर्यावरण और प्राणियों को उससे होने वाला नुकसान, पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाले रासायनिक कीटनाशको का छिड़काव, बहुराष्ट्रीय कृषि कंपनियों और बीज कंपनियों की ताकत आदि पर चर्चा होती है। मंथन में ही विजयेन्द्र कृषि विशेषज्ञ देवीन्द्र शर्मा की एक रिपोर्ट पढ़ता है कि नेशनल फार्मर्स यूनियन के अनुसार 70 प्रतिशत से अधिक कृषि व्यवसाय जबर्दस्त मुनाफा कमा रहे हैं, लेकिन इस शृंखला में किसान ही हैं जो निरंतर घाटे में चल रहे हैं। उपन्यासकार यह सूचना भी देते हैं कि अमेरिका में भी आम आदमी की तुलना में किसान अधिक आत्महत्या कर रहे हैं, चीन में हर साल मौत को गले लगाने वालों की संख्या 2 लाख 80 हज़ार है, इस संख्या का अस्सी प्रतिशत हिस्सा भूमि अधिग्रहण का शिकार हो आत्महत्या करता है। यह वैश्विक अर्थव्यवस्था का नया रूप है, जिसमें अन्न-उत्पादक किसान को हाशिये पर धकेल दिया जा रहा है। किसान का आत्महंता हो जाना जीवन से पलायन नहीं है, बल्कि वह जो वर्तमान जीवन किसान व्यतीत कर रहा है उसके खिलाफ चीख है। मंथन में एक किसान अपनी बात रखते हुये कुछ सवालो को उठाता है जो बेहद महत्वपूर्ण है, 'संपन्नों की प्रतिस्पर्धा में खड़े होने की लालच में कर्ज़ के दलदल में डूबते जाते हैं और एक दिन मर जाते हैं। इसलिए डिस्पैरीटि मिटाओ, बीज बदलो, खाद बदलो, पशुधन जोड़ो, कम्पोस्ट लाओ, कीटनाशक बदलो, जो जहर फैल रहा है माटी-पानी खून में,

आदमी बदलो, आदमी! बाज़ार को अपने कब्जे में करो, दारू बंद करो, फिजूलखर्ची बंद करो और अगर यह सब नहीं कर सकते तो बंद करो यह नौटंकी।'[45]

भारतीय किसान की समस्याएँ एक सी हैं। भौगोलिक विषमता को ध्यान में रखे, तो पहाड़ी और आदिवासी क्षेत्रों को छोडकर बीज, पानी, कुशल प्रबंधन और आर्थिक कमजोरी भारतीय किसान समुदाय की प्रमुख समस्याएँ हैं। विकास के सभी प्रयासों के बाद भी भारतीय किसान सीमित स्तर पर आधुनिक, व्यवसायिक और थोड़ा-बहुत वैज्ञानिक नजर आता है। सरकारी योजनाएँ के दौर में कृषि कार्य नीतिगत अदूरदर्शिता, प्रशासनिक सुस्ती और संवेदनहींन सरकार की वजह से पिछड़ता चला जा रहा है। वह चाहे बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दबाव की वजह से गलत बीजों का वितरण हो या फिर कृषि में जल-संसाधन का उचित पूर्ति न होने से भूगर्भ जल का अतिरिक्त दोहन, वर्तमान समय में देश के अंदर एक नए संकट को पैदा कर रहा है, वह है असमय सूखा। हम निरंतर देख रहे हैं कि भारतीय कृषि क्षेत्र में हरेक वर्ष किसी न किसी स्थान-राज्य में सूखे का प्रभाव देखा जाता है। देश में आजकल का सूखा प्रभाव क्षेत्र मानव-निर्मित अधिक प्रतीत होता है। इस तरह के सूखे वाले क्षेत्र में स्थिति बदतर हो जाती है। महेश कटारे की कहानी 'कूकाल में हंटर' में सूखे को वर्णित करते हुये लिखते हैं,

'सूखे ने किसी के पास कोई काम न छोड़ा था। चारे-पानी के अभाव में अधिकतर धोर-डंगर आउने-पाउने बेच दिये गए थे और न बिक पाने योग्य बूढ़े, मरगिलले खूँटों से खोल हांक दिये गए थे। भूख इस कदर पसर गयी कि यदि कोई बछड़ा-पडेरु गांव से निकाल जाए, तो कुत्तों का झुँढ उसे चीर-फाड़ देता। रात में बाहर अटका पशु सियारों या भेड़ियों का शिकार हो जाता। आदमी भी सुरक्षित नहीं रहा वनचरों से। कुछ परिवार घरों में दिवाली के दिये जलाकर दिल्ली, हरियाणा, पंजाब की ओर काम की खोज में निकल गए कुछ अपनी-अपनी साइकिलों से सुबह-सुबह कस्बे का रुख कर लेते हैं। गाँव में बच्चे, बूढ़े, महिलाएं और निठल्ले ही बचते हैं, जो अधपेट पकाने-खाने के साथ दिन-हफ्ते कुतरते हुये अच्छे समय की प्रतीक्षा की

पैनी कातते हैं। बीच-बीच में हत्या, जनम-मरण, हास-त्रास की घटनाएँ भी हो लेती है।'[46]

भारत में सूखा प्रभाव क्षेत्र के कुछ स्थायी चित्र हैं, जिसमें बुंदेलखंड का इलाका हो या महाराष्ट्र का विदर्भ, लातूर, यवतमाल के साथ-साथ दक्षिण भारत के भी तीन प्रमुख राज्य हैं, जहां सूखे के हालात रहते है। अगर हम सूखे के आंकड़ों को देखें तो स्थिति और स्पष्ट होगी।

'भारत में सन् 1891 से 2002 के बीच कुल 22 बार भीषण सूखा पड़ा। पिछले 100 सालों में केवल तीन बार 1904-05, 1965-66 और 1986-88 में सूखा पड़ने की घटनाएं हुई। सूखे से फसलों को व्यापक नुकसान होता है, जिससे अनाज और चारे की भारी किल्लत हो जाती है। भूमिगत जल के स्तर तथा गुणवत्ता में गिरावट से स्थिति और भी गंभीर हो जाती है। सूखे के दौरान राहत कार्यों पर खर्च की गई राशि से सरकार के संसाधनों पर बोझ बढ़ जाता है। अनुमान है कि वर्ष 2002-03 में केंद्र ने सूखे से प्रभावित राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु जैसे राज्यों को 11.57 करोड़ रूपये की भारी रकम सहायता के रूप में दी। इसी तरह सूखे से 1996-2001 के दौरान 13.8 अरब डॉलर का नुकसान हुआ। सूखे के दुष्प्रभावों को कम करने के लिए भारत सरकार ने पिछले करीब तीन दशकों में कई दीर्घकालीन और अल्पकालीन नीतियां बनाई है।'[47]

खेती किसानी में सिचाई की सुविधा को बढ़ाने के नाम पर नदियों के ऊपर बांधों का निर्माण किया जाने का निर्णय लिया गया। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की विकास संबंधी सोच में नदियों के ऊपर बांधों के निर्माण का फैसला लिया गया था। प्रधानमंत्री इन बांधों को भारत के नए मंदिर-मस्जिद के रूप में आम जनता को बतलाते थे और अपने कथनों में कहते कि इस रास्ते से ही भारत में खुशहाली आएगी। "जब हम लोग पात्रकारिता में आए थे तो भारत का नवनिर्माण हो

रहा था और उसके नए-नए मंदिर बन रहे थे जैसे, भाखड़ा नांगल बाँध, रिहंद बाँध, भिलाई, बोकारो इस्पात कारख़ाना आदि और हम उनके निर्माण और आधारशिला रखने की ख़बरों की रिपोर्ट किया करते।"[48]

वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'डूब' विकास के इस दावे के ऊपर प्रश्न खड़ा करता है और पात्र 'माते' के जरिये पूछता है ''उस विकास से क्या फायदा जो मनुष्यों को उखाड़ दे, बेघरबार कर दे, उन्हें गलत जगह रोप दे, उनकी सहजात इच्छाओं को रौंद दे?''[49]

भारत में संचालित 'विकास' विडंबनाओं और विरोधाभाषों का गढ़ बनता जा रहा है। एक तरफ लोकतान्त्रिक सरकारें कॉर्पोरेट के चंगुल में गिरफ्त है। ऐसा लगता है कि आत्महत्या कर रहे किसानों की मौत इस विकास प्रणाली में अवश्यंभावी है। भारत में आज भी किसानों की बड़ी आबादी सूदखोरों के चंगुल में है, वहाँ हमारी सरकारें विकास के नाम पर 'भूमि अधिग्रहण अध्यादेश' की पैरवी करती हैं और किसानों से कहती हैं कि, आप अपनी जमीन देश के विकास के लिए दीजिये। भूमि अधिग्रहण अध्यादेश किसान को निरंतर मारता है, उसे सोचने के लिए वक़्त भी नहीं देता कि वह क्या करे? किसानों के विरोध से सरकार गुस्से में आ जाती है और इस तरह का ब्यान जारी करती है 'भूमि अधिग्रहण का विरोध करने वाले औद्योगिक क्रांति के विरोधी है।'[50] आज़ादी के बाद से विकास की आड़ में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से लेकर वर्तमान प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी तक किसान की जमीन हीं हड़पी जा रही है। यह हडपना कभी बांध के नाम पर तो कभी विशेष आर्थिक जोन के नाम पर हो रहा है। आज़ादी के सात दशक बाद भी विकास के अर्थशास्त्र में गरीब और छोटे किसानों के साधन और उत्पादन में खास इजाफा नहीं दिखाई देता है। हम देखते हैं कि किसान के अर्थशास्त्र में अब भी बाज़ार, बैंक और सूदखोर महाजनों के बीच चक्करघिन्नी की तरह घूमता रहता है। जहां बाज़ार किसान का सब कुछ लूट लेता है, वहीं बैंक अपने लोन के जरिये किसान के गले में आर्थिक गुलामी का पट्टा पहना देता है। नदियों पर बनने वाले बांधों के विरोध में 20वीं सदी में विरोध की घटनाओं

में बेतवा नदी पर बने राजघाट बांध (लक्ष्मीबाई सागर) पर वीरेन्द्र जैन ने "डूब" उपन्यास लिखकर वहाँ की विकास गाथा को दुनिया भर में उजागर करने का काम किया है। बांध निर्माण के संदर्भ में किस तरह पूरे क्षेत्र को डुबाने का षड्यंत्र किया जा रहा है, वह उल्लेखनीय है। बांध और विशेष आर्थिक जोन के नाम पर किसान के ज़मीन और गाँव को डुबाने का खेल आज भी जारी है। लोकतांत्रिक सरकार ने भले ही विस्थापन के लिए राहत देने के लिए कुछ सौगातें मुआवजे के नाम पर देकर मरहम लगाने की कोशिश की हो, उसकी पड़ताल भी उपन्यास में वीरेंद्र जैन खूब करते है। विकास केवल मुट्ठी भर लोगो का प्रश्न नहीं है या फिर केवल उन लोगों का प्रश्न जिनका विकास करना है। हमने विकास की जिस प्रणाली को अपनाया है वह विकास से अधिक विस्थापन को पैदा करता है, लोग अपने ज़मीनों से विस्थापित हो रहे है और सरकार और कॉर्पोरेट पूंजीपति मिलकर उन्हे विकास के खिलाफ घोषित कर दे रहे है। भारत में निर्मित अधिकतर बांध लोगों को विस्थापित कर बने है और उसके निर्माण के बाद जो खुशहाली आई है वह सीमित तबके तक है।

3.3 मुआवजा, बैंक और किसान

विकास की अनेक परियोजनाएं बांध, सड़कें, खदानें, ऊर्जा संयंत्र, सेज़ आदि को रास्ता देने के लिए लोगों को अपनी भूमि से बाहर होना पड़ता है। विस्थापन विकास का सबसे अप्रिय पहलू है। वर्तमान समय में बेशुमार सरकार और कॉर्पोरेट परियोजनाओं ने बहुत बड़े सार्वजनिक कल्याण और राष्ट्र-हित के नाम पर लाखों लोगो को बेघर कर दिया है। इस विकास परियोजना में जिनकी जमीन के पैसे मिल जा रहे है, वह इस विकास का तात्कालिक लाभ तो उठा ले रहे है, लेकिन ज़मीन के बदले मिले सीमित पैसों के बाद उनकी स्थिति आर्थिक रूप से कमजोर होती जा रही है। कहानी 'लाल छींट वाली लुगड़ी का सपना' में कहानीकार पात्र के जरिये इस चिंता को व्यक्त करता है.... उसने खूब सोचा- इतने रुपयों का क्या करे? घर बना लिया! कार खरीद ली! थैला भरकर बैंक में रख दिया; और क्या करे? उसे कभी नहीं सूझा। उसे ही क्या? कइयों को नहीं सूझा! गाँव के लोग खेती करना जानते थे, और जमीन बिक गई थी। जो थोड़े बहुत भणे-गुणे थे, वे तो शहर में जाकर किसी-न-किसी

रोजगार में लग गए। कुछ ने किसी दूर के गाँव में ज़मीन खरीद ली और वहीं बस गए। लेकिन कई लोग थे, जो कहीं नहीं गए। उनमे से कई दिन भर इमली के पेड़ के नीचे जुआ खेलते। रात को बायपास या रिंग रोड के ढाबों पर पीने-खाने चले जाते।'[51] आज जिस संसाधन पर सबसे अधिक ज़ोर है वह ज़मीन है। ग्रामीण इलाकों में सबसे अधिक झगड़े ज़मीन को लेकर हैं। शहरो में भी इसको लेकर झगड़े देखने को मिलते हैं। दुर्भाग्यवश वर्तमान समय का विकास और आधुनिकीकरण के नाम पर खराब राजनीति, खराब विज्ञान और अचानक से आए अत्यधिक धन की ऐसी साँठ-गांठ हुई है, जिसने शहर से लेकर ग्रामीण इलाकों तक सामाजिक हित की जगह स्व-हित और मुनाफ़े को केंद्र में ला दिया है। मुनाफ़े की संस्कृति ने पूंजी के दबाव का ऐसा जाल बिछाया है, जिसमें आम आदमी सबसे अधिक शिकार बन रहा है। विकास की महारथी सरकारें बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रश्न के नाम पर, साधनों के अभाव वगैरह का तर्क देकर ऐसे घातक परियोजनाओं को लेकर आ रही हैं, जिसके नतीजे के रूप में किसान का विस्थापन सामने आता है।

मुनाफ़े की संस्कृति में सब कुछ का निर्माण एक खास वर्ग के लिया किया जा रहा है। 'डूब जाना है। बेतवा के किनारे बसा तीन तरफ पहाड़ियों से घिरा और शेष समाज से कटा लड़ैईं गाँव, आधुनिक विकास के लिए बिजली अनिवार्य है, इसलिए बांध तो बनेंगे ही- यानि कुछ जंगलों, गांवों और समाजों की बलि तो होनी ही है।'[52]

जैसे एयर कंडीशनर को चालू रखने के लिए एक ऊर्जा संयंत्र, पीने के पानी को उपलब्ध करने के लिए एक बांध की जरूरत, रोजाना की इच्छाओं की पूर्ति के लिए खादानें, नौकरियाँ पैदा करने के लिए विशेष आर्थिक जोन; हमारे सुविधा संपन्न घर-नगर के लिए कोई भी ऐसी चीज जो सुख की लालसा की पूर्ति करती हो। पूंजीवादी प्रगति करने के प्रचंड रफ्तार में एक बड़े समुदाय को इससे बाहर कर दिया गया है। जैसा कि भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व. के. आर. नारायणन ने गणतन्त्र दिवस 2001 की पूर्वसंध्या पर राष्ट्र को संबोधित करते हुये कहा... 'विकास की गति हमारे लोगों के अलग-अलग वर्गों पर अलग-अलग प्रकार के प्रभाव छोड़ रही है। वह मौजूदा

असमानताओं को फैलाने के लिए प्रवृत होती है और नित नई असमानताएँ पैदा करती है। पहले ही अधिकारविहीन कर दिये वर्ग, अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां इस प्रक्रिया में सर्वाधिक पीड़ित है... भारत के बारे में यह न कहा जाए कि यह महान गणतन्त्र, स्वयं को विकसित करने की जल्दबाज़ी में, हरी-भरी धरती माँ को उजाड़ रहा है और हमारी आदिवासी आबादी को उखाड़ रहा है। एक महान समाजवादी ने एक बार कहा है कि संसार को बदल डालने की जल्दबाज़ी में एक महान व्यक्ति जो एक बच्चे को ठोकर से गिरा देता है, अपराध करता है...।'[53]

इस कथन से एक दशक पूर्व जो विकास की नव-उदारवादी नीति सरकार ने अपनाई थी, वह आज दो दशक से अधिक समय के गुजर जाने के बाद भी सुधार की जगह तेज़ी से नीचे की ओर जा रही है। बल्कि समय के साथ ज़मीन और दूसरे संसाधनों को लेकर संघर्ष उग्र और हिंसात्मक होते जा रहे हैं। असमानता इतनी ज्यादा बढ़ती जा रही है कि जिसके पास ज्यादा पैसा है, वह सरकार और दूसरी एजेंसियों के सहयोग से संसाधनों पर कब्जा करते चले जा रहे है, उनके लिए कानून को बदल कर दुबारा लिखा जा रहा है।

विस्थापन में जड़ से उखड़ना पीड़ादायी और दुष्कर कार्य है। भावनात्मक, आर्थिक, मानसिक, सामाजिक मुद्दों के अलावा जो विस्थापित और बेदखल होते है, वह विकास के बदले मिलने वाले घर में खुशी पूर्वक नहीं रह पाते है। जिस नई जगह उन्हे विस्थापित किया जा रहा होता है, वहाँ के निवासी उसका विरोध करते है। विस्थापित होते ही भूख और तंगहाली दरवाजे पर दस्तक देने लगती है, क्योंकि विस्थापन के बदले मिल रहे मुआवजे में से भ्रष्ट अधिकारी एक बड़ा हिस्सा छीन लेते है। बेदखल औरतें अपना खुद का प्रबंध करने के लिए संघर्ष करती रहती है । अपने गाँव के लोगो के साथ विस्थापितों के तार टूट जाते हैं, आपसी रिश्ते-नाते पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसमें बहुत कम लोग है जो अपनी जिंदगी को दुबारा बेहतर ढंग से शुरू कर पाते है, अधिकतर लोग नाकाम ही रहते है। विस्थापन की पूरी प्रक्रिया वैसे ही है, जैसे किसी एक पेड़ को जड़ से उखाड़ देने के बाद उसे फिर से कहीं रोपने की कोशिश की जाती है, लेकिन बहुत कम ही उम्मीद होती है कि वह दुबारा अपनी जड़ों को जमा पाये। विकास के भंवर में विस्थापितों की बढ़ती दुर्दशा पर सरकार का ध्यान नहीं जा पाता है। सरकार में शामिल कुलीन जन यह तर्क रखते हैं कि विकास के

लिए किसी न किसी को तो कीमत चुकानी ही पड़ेगी। लेकिन प्रश्न है कि कौन किसके लिए कीमत चुका रहा है? जो कीमत वह चुका रहा है उसका परिणाम क्या है? और अंत में कीमत चुका देने के बाद उनके साथ क्या घटता है, इसकी जवाबदेही किसके पास है?

अधिकतर प्रश्न के उत्तर सरकार के पास नहीं है। नई परियोजनाओं के लिए ज़मीन की बढ़ती हुई मांग को देखते हुये, विकास की ऐसी प्रक्रिया भविष्य मे बदल जाने वाली नहीं है। इस तरह के प्रश्न बार-बार सामने आएंगे। लोग जान पर खेलकर अपनी ज़मीन को बचाने की कोशिश कर रहे है। कई जगहों पर लोगों ने अपने ज़मीन को बचाने के लिए गोलियां खा ली, उग्र प्रदर्शन वहाँ हुये। ओडिशा के पॉस्को हो या फिर झारखंड का नागरी हो, किसी भी कीमत पर किसान आदिवासी अपनी जमीन को बचाने के लिए कृत संकल्प है। 'लाल छींट वाली लुगड़ी का सपना' कहानी में डुंगा किसी भी कीमत पर अपनी जमीन को नहीं जाने देता है। किसान अपने ज़मीन की अहमियत को समझता है, वह जानता है कि सरकार उसकी जमीन को ले लेगी लेकिन उसके बाद उसकी स्थिति सरकार की नजर में कुछ नहीं होगी और वह अपने जमीन की वजह से जहां किसान के रूप में देखा जा रहा है, वहीं जमीन के निकल जाने के बाद वह भिखारी की स्थिति में आ जाएगा... 'जैसे अपनी जमीन की सही कीमत लगाने का अनुरोध करने या जो सरकार ने तय कर दी है, मन मानकर वही कीमत पाने की तमन्ना लेकर आनेवाला कोई लाचार, बेबस, ठगा गया भोलाभाला किसान नहीं-भिखारी आ खड़ा हुआ है'![54]

'डूब' उपन्यास में विकास के नाम पर बांध का निर्माण किया जा रहा है। लेकिन इस बांध निर्माण के जरिये किस तरह ग्रामीण जनता के जीवन में विनाश का आगमन होता है, उसका लेखा-जोखा रचनाकार वीरेंद्र जैन ने प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास एक बड़ा कलेवर और युग बोध को लेकर चलता है। आज़ादी के बाद से ही विकास के नाम पर लोगो का जीवन कैसे उजाड़ा या उजाड़ने का प्रयत्न किया जा रहा है, इस बिन्दु पर यह उपन्यास ठहरकर सोचता है। विकास के नाम पर विस्थापन को दिखाकर लेखक ने विकास की विनाशलीला को सामने लाया है। सरकार द्वारा बांध

परियोजना के लिए कृषि लायक ज़मीन ली जाती है और रिहाइशी इलाकों को छोड़ दिया जाता है। मुआवजे के नाम पर किसानों के पास पैसा आता तो है लेकिन साहूकार अपने पुराने कर्ज़ वसूलने के नाम पर किसानों के पैसे हड़प लेते हैं और जिले के शहर ललितपुर, झाँसी, बिनाया और भोपाल जैसे बड़े शहर में जा बैठते है और सरकार से अपने रिहाइशी ज़मीनों के लिए मुआवजे का इंतज़ार करने लगते है। बिजली पैदा करने के नाम पर इस बांध का निर्माण किया जा रहा है, इसलिए बांध के नजदीक पानी भरा जा रहा है। इस पानी भराव के दौरान लडैई पर बाढ़ का खतरा मंडरा रहा है, लेकिन गाँव के साहूकार इस ताक में हैं कि गाँव के लोग गाँव छोडकर भागे और सस्ती जमीने खरीदकर सरकार से ज्यादा मुआवजा वसूल किया जा सके। 'यह कैसा न्याय है! यह कैसी उल्टी रीति चलाई है सरकार ने! औने-पौने दाम लगाकर, कानून का भय दिखाकर हमसे हमारी जमीन हड़पी, हमे बिना बताए, बिना हमसे सलाह किए, बिना हमरी मंशा जाने, बिना हमसे हाँ करवाए, हमरे मुँह में अपने बोल डाल दिये! कह दिया दुनिया से कि हम अपनी ज़मीन बेचने को तैयार है.....

....और जो दाम दिये उसमें से भी आधे झपट लिए! दाता की हथेली नीचे रखवाई और मगते ने रखी ऊपर। यह उल्टा चलन चलाया, इसीलिए तो न देने वाले के हाथ में कुछ रह पाया न पाने वाले तक कुछ पहुंचा। सब-का-सब जा गिरा धरती पर। उस गिरे को चाट गए, हजम कर गए घात में बैठे चटोर कुत्ते और सूअर'।[55] इन कथनों से स्पष्ट है कि सरकार की जो नीति है, उससे ग्रामीण वर्ग जिसकी जमीन है वह खुश नहीं है। उसका कहना है कि पूरी की पूरी नीति गलत है, या यह कहा जाए कि सरकार की यह नीति उन ग्रामीण के लिए नहीं जिसकी जमीन है, बल्कि उसके लिए है जो इसमे पैसे हड़प रहा है। क्योंकि उजाड़ना तो बेहद सरल है मूल मुद्दा है बसाना, जिसको लेकर सरकार उदासीन नजर आती है और उसके भ्रष्ट अधिकारी मालामाल।

'सरकार की रकम गई, भूस्वामी की जमीन। न यह उस तक पहुंची न वह इस तक। सरकार ने जो दिया बेचने वाले को, उसमे से कुछ तो सरकारी भंडया लूट ले गए और कुछ लूट ले गए साव। बाकी जो लूट ले जा रहे है अब भंडया...। सरकार को

बेचने के बाद उस जमीन में जो पैदा किया उसके पुराने भूस्वामी ने, उसमे भी आधे से ज्यादा लूट ले जाते है ये सरकारी भंडया। इस पूरे तमाशे में दोनों हाथों अगर लडुवा हैं किसी के, तो वे हैं सरकारी मुलाज़िम के, कि फिर साव के'।[56]

अमेरिकी मानवविज्ञानी, थेयर स्क्डर ने कहा है, 'हत्या के अलावा अगर आप एक व्यक्ति का सर्वाधिक बुरा कुछ कर सकते है, तो वह है उसे विस्थापित कर देना'।[57] विकास के नाम पर विस्थापन का परिदृश्य वर्तमान समय में भारत का प्रतिनिधि दृश्य है। आज और भी बड़े स्तर पर विस्थापितों के जत्थे अपने मूल गाँव से उजड़ कर कहीं और पुनर्वास बस्तियों में जाने के लिए बाध्य है। विकास के प्रभाव में विस्थापितों की एक बड़ी संख्या अपने घर-जमीन से बेदखल हो चुकी है और लूट-खसोट की सरकारी प्रवृति में उनके पुनर्वास का भरोसा कम ही नजर आता है।

विस्थापन का एक दूसरा पहलू भी है जब गाँव का किसान खेती-किसानी की बुरी हालत और निजी समस्याओं की वजह से वह अपने मूल स्थान से पलायन कर मजदूरी के लिए किसी दूसरे जगह की ओर रुख करता है। हम देखते हैं कि पिछले दो दशक से जो कृषि संकट पैदा हुआ है, उसमे सबसे अधिक मार छोटे किसानों और खेत मजदूरों के ऊपर पड़ी है। गाँव से जिन भी लोगों का पलायन हो रहा है उसमे सबसे अधिक संख्या खेत मजदूरों की है, लेकिन अब जब हालात और बिगड़े हैं तब छोटे-मंझोले किसान भी गाँव और किसानी छोड़ रोजगार के लिए पलायन करने लगे। जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान' में गाँव में मौजूद नई पीढ़ी खेती-किसानी के बाढ़-सुखाड़ में अपना जीवन नहीं गलाना चाहती है, भले ही वह क्स्बों-शहर में खेतों में उगाये गए सब्जियों को ही बेचें, लेकिन वह अपने ही खेत में काम नहीं करना चाहते है। नई पीढ़ी को खेती के बनिस्पत खेती के उत्पाद को बेचना ज्यादा फायदेमंद नजर आता है। 'अब खेती-बाड़ी में हम छोटे किसानों के लिए कुछ नहीं रखा है बाउ.... घर-खेत बेचकर हमे शहर जाना ही होगा। सोचने-विचारणे में हमने बहुत टैम बर्बाद कर लिया'।[58]

कहानी 'छोटा किसान' में इस संदर्भ में बात करते हुये छोटा किसान दादू अड़ता है और खेत मजदूरों का हवाला देते हुये कहता है... 'हमे यह नहीं देखना कि

इस गाँव में हमसे कितने लोग सुखी-सम्पन्न है। हमे अगर देखना ही है तो या देखना है कि हमसे भी लूटे-पिटे बहुत सारे लोग हैं यहाँ। हमारे पास तो खर्ची चलाने के लिए चार-पाँच महीने का अन्न हो जाता है, लेकिन उन्हें भी तो देखो जो एकदम भूमिहीन हैं, जिनकी सारी जमा-पूंजी बस उनकी देह है... उनकी मेहनत है। मुसहरी में बेचारे मुसहरों, पासियों, दुसाधों और चमारों में से किसी को यह नहीं मालूम कि कल वे क्या खाएँगे?'[59]

छोटा दादू अपना खेत, घर-बार सब बेचकर बेटों के कहे अनुसार गाँव छोड़ शहर चल देता है। जो लोग अब गांवों में अपने घर-बार खेत-खलिहान बेच कर जा रहें है, उनको खरीदने के लिए उनके ही गाँव में एक नव-धनाढ्य वर्ग भी है जो उनकी निशानियों को खरीद रहा है। मौजूदा समय में सोचने की जरूरत है कि कृषि संकट के दौरान भी जमीन की कीमत नहीं घटी है, बल्कि उसके दामों में बढ़ोतरी हुई है और सबसे बड़े संसाधन के रूप में देखी जाने लगी है। ज़मीन एक ताकत का प्रतीक बन चुका है। यह ज़मीन ही है जो सामंती नैतिकता और उसके श्रेष्ठताबोध को तमाम सामाजिक बदलावाओं के बाद भी जिंदा रखे हुये है।

किसान का अपने जमीन और पशुधन से गहरा लगाव होता हैं। इन दोनों के बगैर वह अपने खेती-बारी को आगे नहीं बढ़ा सकता है। इस संबंध को हिन्दी कथाकारों में प्रेमचंद ने बहुत ही सूक्ष्म और मार्मिक ढंग से विश्लेषित किया है, 'दो बैलों की कहानी' इसका बेहतरीन साक्ष्य है। कैलाश बनवासी की कहानी 'बाज़ार में रामधन' किसान और उसके पशुधन के जो संबंध है उसको उजागर करता है। इसके साथ ही इस कहानी में 'पशुधन' के जरिये कैलाश बनवासी बाज़ार की उन शक्तियों की भी पड़ताल करते है, जो किसान को नए दौर की किसानी में कदमताल करने के चक्कर में वह अपनी किसानी में से कुछ को बाज़ार में बेचने के लिए ले जाता है। बाज़ार की शक्तियाँ किसान को बल देने वाले उसके साधनों में सेंध लगाने की जुगत में लगे रहती हैं। नये दौर के किसानी में ट्रैक्टर का हल-बैल के स्थापनापन्न बन जाना हो या फिर बहुराष्ट्रीय और कॉर्पोरेट कंपनियों द्वारा किसानों की जमीन ठेके या पट्टे पर लेकर खेती करना आज के खेती-बारी की हकीकत बन गई है।

कहानी 'बाज़ार में रामधन' में रामधन के छोटे भाई मुन्ना की पूरी समझ को निर्मित करने में बाज़ार का किस कदर योगदान है, इस तथ्य का बखूबी वर्णन करता है। बल्कि 'बाज़ार में रामधन' के अतिरिक्त 'कूकाल में हंटर' (महेश कटारे), या सुभाषचंद्र कुशवाहा की 'तिलेसरी' हो या फिर जयनंदन की 'छोटा किसान' इन सभी कहानियों में इस प्रश्न को सामने लाया गया है कि, कैसे बाज़ार किसान को अपने गिरफ़्त मे ले रहा है? कहीं वह जमीन के जरिये कब्जा कर रहा है, तो कहीं बेहतर जीवन के लालच में वह घुसपैठ कर रहा है, तो कहीं अपने संसाधनों के जरिये, लेकिन इन सबमे जो सबसे समान्य बात निकल कर आती है, वह है किसानी की बदहाली।

'बाज़ार में रामधन' कहानी में भी रामधन के छोटे भाई मुन्ना को हर वक़्त यही लगता रहता है कि उसे कोई धंधा करना चाहिए और वह इसके लिए कुछ पैसे की गुंजाइश घर से चाहता है। धंधे के लिए धन चाहिए और इसके लिए वह बैलों को बेचने के लिए रामधन के ऊपर दबाव डालता है। बैलों को बेच देने का प्रस्ताव रामधन को विचलित कर देता है और रामधन उसे बहुत चाह कर भी नहीं बेच पाता है। 'मान लो दाऊ या महराज तुम्हें चार हज़ार दे रहे होते तो क्या तुम हमें बेच दिये होते? रामधन का जवाब था "शायद नहीं"। "बेचना तो पड़ेगा एक दिन!" "बैल कह रहे हैं, "आखिर तुम हमे कब तक बचाओगे, रामधन? कब तक?" अनिश्चय उदासी और भी बहुत फ़ीकी मुस्कान रामधन के चेहरे पर तैर जाती है। वह बैलों से कहता है, "देखो हो सकता है अगली हाट में मुन्ना तुम्हें लेकर आए।"[60] इस आशंका-युक्त कथन से कहानी खत्म होती है।

पूंजीवादी विकास की उन्मादी अवधारणा में बाज़ार एक प्रमुख हथियार के बतौर कार्य करता है। बाज़ार ने आज एक पूरी पीढ़ी को भ्रामक बना दिया है। अपने प्रचार तंत्र से उसने ग्रामीण-जन के बीच भ्रम का पूरा जाल बिछा दिया है। किसान आज इस भ्रम से लड़ने की कोशिश में लगा हुआ है।

आज हम देख रहे हैं कि किसान अब केवल परंपरागत संकटों से ही नहीं लड़ रहा है, बल्कि उसे आज की तारीख में जो नए संकट पैदा हो रहा है, उससे भी संघर्ष

करना पड़ रहा हैं। आज पूरी दुनिया 'खेती, किसानी और पानी' के संकट से जूझ रही है और यह संकट अधिकतर मानव-निर्मित संकट है। औद्योगीकरण की बेलगाम दौड़ में जल, हवा और मिट्टी सबसे अधिक प्रदूषित हुये है। इन सबका कुप्रभाव किसानी पर पड़ा है। प्रश्न है कि इस खतरनाक स्थिति से बचने के लिए किसान क्या कर सकता है? किसान को इस मौजूदा संकट से निकालने के लिए सरकार समावेशी विकास के अंतर्गत ऐसी अनेक योजनाओं को लेकर सामने आई, जिसमें सरकार के अनुसार किसान, किसानी के साथ-साथ मवेशी पालन, परंपरागत फसलों की जगह नकदी फसलों का उत्पादन करें और इन सबके लिए बैंक से लोन उपलब्ध कराने का कार्य सरकार ने किया है। परन्तु जमीनी हकीकत इससे कुछ और नजर आती है। शिवमूर्ति की रचना 'आखिरी छलांग' में 'पांडे बाबा' ट्रैक्टर और ट्रॉली के लिए बैंक से लोन लेते हैं, इसके एवज में वह अपनी जमीन गिरवी रखते है, लेकिन बैंक धोखे से पुरानी तारीख डाल कर जमीन की नीलामी करा देता है। यहाँ बैंक की कार्यप्रणाली को देखा जा सकता है कि कैसे पहले बैंक के कर्मचारी गाँव-घर घूम कर ग्रामीण लोगों को बैंक से लोन लेने के लिए उकसाते है और बाद में जब उन्हे एहसास होता है कि अमुक ग्रामीण लोन नहीं चुका पाएगा, तो धोखाधड़ी से उसकी जमीन को हथिया लेते है। अपनी जमीन को गवां देने के बाद 'पांडे बाबा' आत्महत्या कर लेते है। इस आत्महत्या का वर्णन करते हुये रचनाकार लिखता है 'महीनों बड़ा हड़कंप रहा। अखबारों में और टी. वी. चैनलों पर पांडे बाबा की आत्महत्या का मामला छाया रहा। मांग उठी कि किसानों की ऋण नीति की पड़ताल होनी चाहिए। जो ऋण किसान की भलाई के लिए दिया जाता है वही उसके गले का फंदा कैसे बन जाता? जब खेती की आमदनी से इतनी भारी रकम की वापसी हो ही नहीं सकती, तो उसे किसानों को अपने गले में बांधने के लिए उत्साहित क्यों किया जाता है?'[61]

जिन सवालों को यहाँ उठाया जा रहा है उससे जाहिर होता है कि सरकार और उसका उपक्रम बैंक वर्तमान दौर में किसानों के लिए पुराने साहूकार और जमींदार की भांति उसका शोषण कर रहे है और उसे आत्महत्या की ओर धकेल रहे हैं। जो सरकारें किसानों की हितैषी बनने का ढोंग करती हैं, वह इन सवालों पर चुप

हो जाती हैं। ग्रामीण भारत में बैंक लोकतान्त्रिक तरीके से किसानों के साथ पेश न आकर पूंजीवाद के नुमाइंदे के बतौर व्यवहार करता नजर आता है। कर्ज़ न चुका पाने से होने वाली बेइज्जती और सामाजिक उपहास के कारण किसान मौत को गले लगा लेता है। इस संदर्भ में किसान को लगता है कि बैंक वाले भी केवल गरीब किसान को ही डराते-धमकाते है और उन बड़ी कंपनियां जो करोड़ों रुपए का लोन लेती है और उनकी न कोई जांच होती है न कोई पूछ-ताछ । 'गाँव का बूढ़ा सम्पत भीड़ से निकलकर एकदम अमीन के मुंह से तर्जनी सटाकर बमकता है- बड़ी-बड़ी मिलों, फ़ैक्ट्रियों पर सिर्फ बिजली का ही लाखों का बकाया है, उसे वसूलने की हिम्मत तुम्हारे बाप की भी नहीं हैं। सारा कानून सिर्फ किसानों, मजदूरों के लिए है?'[62]

हम व्यवहारिक जीवन में भी देखते हैं कि बैंक अधिकतर उन लोगों को ही परेशान करता है, जो दलाल संस्कृति से बाहर होते है। उन लोगों को अधिकतर छूट मिल जाती है, जो बैंक और सरकार के साथ दलाल संस्कृति से जुड़े होते हैं और भ्रष्ट व्यवस्था को मजबूत कर रहे होते है। समावेशी विकास की समझदारी में जो प्रणाली विकसित हुई है, उसमे एक जगह दूसरी योजना जो दूसरी भौतिक परिस्थितियों में सफल हुई कहानी है उसको किसानों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यह प्रस्तुति बगैर यह जाने की जाती है कि सामने वाले किसान की भौतिक-सामाजिक परिस्थिति क्या है? वह इस नए स्वरूप को स्वीकार कर पाएगा या नहीं? इन सब की पड़ताल किए बगैर योजनाओं को ग्रामीण इलाकों में भेज दिया जाता है और किसान आनन-फानन में उसे ले लेते है, लेकिन बाद में विफलता की स्थिति में उन्हे पछताना पड़ता है। समावेशी विकास योजना के तहत ग्रामीण इलाकों में नकदी फसल को पैदा करने से लेकर मवेशी पालन तक के नए रोजगार को लाया गया। अब प्रश्न है कि क्या इन योजनाओं ने ग्रामीण किसान-खेतिहर लोगों की समस्याओं को खत्म किया या फिर उनके लिए किसी नई समस्या को तो नही पैदा किया? ऐसी ही समझदारी के साथ ग्रामीण इलाकों में बेरोजगारी दूर करने के लिए 'रोजगार गारंटी योजना' को लागू किया गया, लेकिन होता क्या है यह जानना महत्वपूर्ण है। 'रोजगार गारंटी योजना के सरकारी प्रचार-प्रसार को देखकर युनूस को फिर एक बार कुछ कमा लेने की उम्मीद जागी। उसे लगा गाय का घाटा मजूरी से पूरा हो जाएगा। दूसरे मजदूरों के साथ उसने

भी जाब कार्ड बनवाया, लेकिन पंचायत सचिव ने यह कहते हुये सबके जाब कार्ड अपने पास रख लिए कि काम खुलेगा तब दे देंगे।'[63] 'कालीचाट' उपन्यास का पात्र युनूस इसके पहले मुर्गी पालन और गाय के जरिये जीवन में कुछ उम्मीद जिंदा करने की कोशिश करता है, लेकिन वह उचित जानकारी न होने के अभाव में वहाँ भी असफल होता है और बैंक का लोन सर पर चढ़ा हुआ है, इसके लिए वह रोजगार गारंटी योजना के तहत कुछ बेहतर हो जाने की आशा करता है, लेकिन छह महीने गुजर जाने के बाद भी किसी काम की शुरुआत नहीं होती है। पता करने पर मालूम चलता है कि सड़क से जुड़ा हुआ जो मजदूरी का पैसा है वह पहले ही निकाला जा चुका है। इसी दौरान युनूस को पता चलता है कि पंचायत से कूप निर्माण योजना के तहत उसके ऊपर एक लाख रुपए बकाया है सरकार का। युनूस सभी मजदूरों को लेकर जब सरपंच के पास पहुंचा तो सरपंच साहब आपे से बाहर आ गए और अपने एकबालिया बयान के जरिये सबको हड़का दिया। 'हाँ, मैंने तमारा सबका अंगूठा लगा के पैसा हेड़िया। तमारे जहां जाना है जाओ। कलेक्टर के पास जाओ, मुखमंतरी के पास जाओ हो सके तो प्रधानमंत्री के पास भी चलिया जाओ। पर एक बात सुन लो, तम सब मिलके म्हारी झांट को एक बाल भी नी उखाड़ सको। मई एकलो पैसा थोड़ी खाऊँ हूँ। बैंक से लगाके तो जनपद का बाबू, इंजीनियर, सीओ, कलेक्टर सबके पैसा दूँ हूँ। कौन से शिकायत करोगा। पैसा कौन नी खाय। मुखमंतरी तगाद रिश्वत ले है। बस उनका हिसाब से पैसा पोंचाने कि अकल होनी चाहिए'[64]।

सरपंच का यह कथन भारतीय शासन् प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर कर रहा है कि किस तरह सरकारी अमला जो जनता की सेवा के लिए होते हैं, वह जनता के लिए बनी योजनाओं को ही लूट लेते हैं और निर्लज्जता के साथ शिकायतकर्ता को यह भी कहते हैं कि, तुम्हें जहां जाना है जाओ क्योंकि तुम्हारे पैसों का हक सबने मारा है। किसान जितना ज्यादा अपनी गरीबी से छुटकारा पाना चाहता है वह उतना ही उस गरीबी के मकड़जाल में फँसता चला जाता है। समावेशी विकास की प्रणाली में आज भी किसान वंचित जनसंख्या का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। अन्य वंचित समूहों की ही तरह भारत में किसानों की हालत एकदम दयनीय है। आज कृषि क्षेत्र में विकास और उन्नति का लाभ कृषकों की बजाए बिचौलियों और

उद्योगपतियों को ही मिल रहा है, वही पहले जमीदार और साहूकार के जेब में जाता था। देश के अनेक हिस्सों में किसानों की आत्महत्या की खबरें सामान्य घटना के रूप में दर्ज होती हैं। जो किसान देश की जनता का भरण-पोषण करता है, जिसे अन्नदाता के नाम से संबोधित किया जाता है, वह विकास की हर कोशिश के बाद भी खाद्यान की कमी और भुखमरी का शिकार है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार वृद्धि और कृषि को उद्योग के रूप में बढ़ावा देने के लिए डेयरी, कोल्ड स्टोरेज, पैकेजिंग और प्रसंस्करण में गुणवत्ता विकास के द्वारा कृषि क्षेत्र को वैश्विक मानकों के आधार पर खड़ा करने की दिशा में प्रयासरत है। परंतु यह प्रयास असफलता के साथ ही क्रियान्वित हो रहा है। समावेशी विकास के लिए सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि और कृषि समर्थित उद्योगों को बढ़ावा देने के साथ ही विकास तथा ग्रामीण लोगों की आर्थिक-शैक्षणिक सशक्तिकरण की ओर कोशिश कर रही है, लेकिन स्थिति कमोबेश यही है... 'लोगों के पास रोजगार नहीं है...खेती से पेट भरना मुश्किल हो रहा है। पीने का पानी नहीं है... सड़कें नहीं हैं। स्वास्थ्य सुविधाएं नहीं हैं... बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा नहीं है और भी ढेरों रोज़मर्रा कि समस्यायें हैं। आखिरकार आज़ादी के सैंतालीस साल बाद भी आम आदमी इन सुविधाओं से वंचित क्यों हैं? लोगों को बुनियादी सुविधाएं मुहैया करने के लिए पिछली सरकारों ने औद्योगिक क्रांति, हरित क्रांति, श्वेत क्रांति और फिर गरीबी हटाओ जैसे नारे दिये थे- उनका हश्र क्या हुआ? हालांकि, वह जानता था कि शोषण के खिलाफ शिक्षा एक बहुत बड़ा हथियार है। यदि सरकार वास्तव में लोगों के हाथ में यह हथियार देना चाहती है, तो इस कार्यक्रम का उद्देश्य लोगों को शिक्षित करना होना चाहिए ना कि सिर्फ साक्षर करना'।[65]

समावेशी विकास की जो राजनीति है वह भी कुछ इसी तरह की है। जो बुनियादी जरूरत है, उससे दूर जाकर केवल समस्यापूर्ति करने के लिए योजनाओं को बनाना और जब वह योजना विफल हो जाए तो फिर एक नई योजना के बारे में सोचना और उसको लाना। योजनाओं के इसी सरकारी क्रम को देखते हुये उपन्यासकार राजू शर्मा ने अपने उपन्यास 'हलफनामे' में एक ऐसी ही योजना का

जिक्र किया है, जिसका नाम है 'किसान आत्महत्या योजना'। इस योजना के जरिये रचनाकार ने सरकारी योजनाओं की पड़ताल की है। कैसे और क्यों इन योजनाओं को बनाया जाता है? इस किसान आत्महत्या योजना को ही लिया जाए तो इस योजना का नाम तय हुआ था 'किसान विपदा निवारण योजना', लेकिन गांवों में यह योजना 'किसान आत्महत्या योजना' के नाम से चर्चित हुई। सरकारी योजनाएँ अपने साथ सामाजिक विषमताओं, राजनीतिक नेताओं और उनके लोगों की अवसरवादी चालों एवं प्रशासनिक तबकों की उदासीनता के जरिये किसान स्वामी प्रसाद और उसकी परिवारिक स्थिति के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। स्वामी प्रसाद एक छोटा किसान है और उसका बेटा मकई राम एक बिजली साज है। बेटे द्वारा खेती-किसानी की जिम्मेदारी उठाने से मना कर देने पर भी बाप-बेटे में कोई झगड़ा या मनमुटाव नहीं है। दोनों अपने-अपने काम पूरी निष्ठा से करते रहते हैं। एक दिन अचानक मकईराम को खबर मिलती हैं कि उसके पिता ने आत्महत्या कर ली है। वह अपने पिता की आत्महत्या के एवज में मुआवजे के लिए एक हलफनामा दाखिल करता है और यहीं से मकई की व्यवस्थित जिन्दगी में भू-चाल आने लगता है, क्योंकि उसकी मुआवजे की अपील एक केस का रूप धारण कर लेती है।

किसान आत्महत्याओं के लिए मुआवजे की स्कीम की घोषणा, एक सत्तालोलुप मुख्यमंत्री राज्य में चुनाव की नज़दीकी को देखते हुए महज इसलिए कर देता है, क्योंकि दूसरे राज्यों जहाँ आत्महत्या की घटनाएँ बराबर घट रही थी और उसके यहाँ ऐसी कोई योजना नहीं थी। जबकि उसके राज्य में अभी तक एक भी किसान आत्महत्या की घटना नहीं घटी थी। राज्य में किसान आत्महत्या की एकमात्र घटना होने और मुआवजे की मांग करने से बिजलीसाज़ मकई देश के अन्य राजनीतिक दलों की राजनीति को आगे खिसकाने का ज़रिया बन गया। 'उन महीनों में प्रदेश के हर सूबे में लगातार आन्दोलन हो रहें थे. यह कोई नई बात नहीं थी. जुलुस, जाम, बंद, दफ्तरों की घेराबंदी, अनशन और आमरण अनशन तरह के आयोजनों में सभी राजनीतिक दल सक्रीय थे. सत्ता गठबंधन के दल भी पीछे नहीं थे. समान मांगे थी और एक ही तरह के विरोध के स्वर.'[66]

इस उपन्यास के जरिये भारतीय समाज और उसके अंदर व्याप्त भ्रष्ट व्यवस्था का वृतांत सामने रखा है। नव आर्थिक नीतियों के तहत पैदा हुये संकट में किसान एक उत्पादक के रूप में अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पहचान खो रहा है। आज किसान उत्पादक के बदले बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा स्थानीय साहूकारों एवं भूस्वामी के माध्यम से बेचे जाने वाले कीमती बीजों और रासायनिक खादों का उपभोक्ता हो गया है। विश्व का हर चौथा किसान भारतीय है। आर्थिक उदारीकरण ने कृषि-व्यवस्था की नींव को नष्ट करते हुये भारतीय कृषि को कॉर्पोरेट के हवाले करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है और सरकार ने सब कुछ देखने के बाद भी अपनी आँखों को बंद कर दिया है। भारत में जहां ग्रामीण आबादी की संख्या सबसे अधिक है और वह आबादी आज संकट और तनाव के अनुभव से गुजर रही है। ग्रामीण आबादी की धुरी किसान के ऊपर टिकी होती है, लेकिन आज किसान ने अपनी संकटग्रस्त स्थिति से निकलने के लिए आत्महत्या का रास्ता चुन लिया है। जिन किसानों का जीवन अब तक बचा हुआ हैं उनमे से कुछ किसानों को विस्थापन का दंश झेलना पड़ा है और वह ज़मीन के मुआवजे की लड़ाई को लड़ रहे है। विकास के नाम पर गाँव को उजाड़ा जा रहा है, ग्रामीण संस्कृति को खत्म किया जा रहा है। किसान आज हलकान हुये जा रहा है, मौत को गले अपना रहा है, लेकिन विडम्बना देखिये कि उसकी जमीन आज सबसे बड़े संसाधन के रूप में देखी जा रही है। उसकी जमीन को हड़पने के लिए सरकार और कॉर्पोरेट दोनों जल्दबाज़ी में है कि कैसे किसान की उपजाऊँ जमीन से किसान को ही बेदखल किया जाए। किसान की स्थिति आगे कुआं पीछे खाई वाली हो गई है, जिंदा रहने पर उसकी जमीन जाने की नौबत आती है और वह उसको बचाने के एवज में 'सामाजिक इज्जत' के नाम पर मौत की तरफ चला जाता है। वर्तमान राजनीतिक घटनाक्रम में सरकारी नीतियों के जरिये किसानों की मौत सबसे अधिक हो रही है, वरन यह मौत नहीं बल्कि कुछ खास नीतियों के इंतज़ामों के साथ किसान को ठंडे तरीके से मारने की साजिश रच दी गई है है और उसे आत्महत्या का नाम दिया जाता है। 1990 के बाद का ग्रामीण भारत एक भयानक और ऐतिहासिक परिवर्तन के मुहाने पर खड़ा है। जहां हम निरंतर उसकी बदहाली को देख रहे है। बहुत तेज़ी से बदलती हुई दुनिया में गाँव कोसों पीछे की ओर जा रहा हैं। अदूरदर्शी सरकारी नीति, भ्रष्ट और मक्कार नौकरशाही के कारण आज ग्रामीण समाज की स्वाधीनता और

स्वायतता पर सबसे अधिक हमला है। यही कारण है कि ग्रामीण भारत आज अपने अंदर हताशा, विषाद और तनाव को पैदा कर रहा है और यह सब मिलकर उसे निर्मम होने के लिए विवश कर रहे होते हैं और ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण समाज का नायक किसान अलविदा कह देता है सदैव के लिए।

संदर्भ:-

1. छोटा किसान, जयनंदन, पृ. 75
2. कुकल में हंटर, महेश कटारे, पृष्ठ-480
3. छोटा किसान, पृष्ठ-75
4. छोटा किसान, पृष्ठ-75
5. वहीं
6. संवेद, पृ. 248, ब्रजेश यादव का लेख
7. अपनी माटी, किसान विशेषांक, अंक-25 (अप्रैल-सेप्टेम्बर,2017), भीम सिंह का आलेख/किसान, आंदोलन और साहित्य
8. छोटा किसान, पृ. 74
9. संवेद, पृ. 248
10. छोटा किसान, पृ. 75
11. ब्रजेश यादव का आलेख, संवेद, पृ. 248
12. छोटा किसान, पृ.75
13. फांस, संजीव, पृष्ठ-10
14. कूकाल में हंटर, महेश कटारे, पृ.473, अभिनव कदम-27
15. फांस, पृष्ठ-91
16. कुकाल में हंटर, पृ. 474
17. वहीं
18. वहीं
19. तिलेसरी, सुभाषचंद्र कुशवाहा, कथा में गाँव, पृष्ठ-231
20. संवेद, पृष्ठ-179
21. www.rachnakar.org/2016/06, सुभाषचंद्र कुशवाहा का आलेख

22. वहीं
23. लाल छींट वाली लुगड़ी का सपना, सत्यनारायन पटेल, पृ.120
24. वहीं, पृ. 118
25. वहीं पृ. 102
26. वहीं, पृ. 126
27. वहीं, पृ. 135
28. वहीं, पृ. 118
29. वही पृ. 119
30. वही पृ. 124
31. वही पृ. 124
32. कालीचाट, सुनील चतुर्वेदी, पृ. 29
33. वही पृ. 36
34. hindi.Indiawaterportal.com/kalichat Movie
35. www.gaonconnection.com/krishi
36. कूकाल में हंटर, पृ. 481
37. कालीचाट,पृ. 15
38. कालीचाट, पृ. 9
39. कालीचाट,पृ. 15
40. EPW, vol. 59
41. hindi.indiawaterportal.org/node/47789
42. वही
43. तरबूज के बीज, पृ. 65
44. बीज बैंक, पृ. 487
45. फांस, पृ. 186
46. कूकाल में हंटर, पृ. 481
47. hindi.indiawaterportal.org
48. www.bbc.com/regionalnews/story/2014/05/
49. डूब, पृ. 93
50. संवेद, पृ. 8 अगस्त, 2017
51. लाल छींट वाली लुगड़ी का सपना, पृ.119

52. डूब, पृ. 104
53. यहाँ एक गाँव था, पृ. 7
54. डूब, पृ.232
55. वही, पृ 242-243
56. वही
57. यहाँ एक गाँव था, पृ. 5
58. छोटा किसान, पृ. 73-74
59. वहीं
60. बाज़ार में रामधन, पृ.71
61. आखिरी छलांग, नया ज्ञानोदय, पृ. 99
62. वहीं, पृ. 82
63. कालीचाट, पृ. 124
64. वहीं पृ. 124
65. वहीं, पृ. 37
66. हलफनामे, राजू शर्मा, पृ. 12

चौथा अध्याय

समावेशी विकास की राजनीति और अन्य सामाजिक समूह

4.1 आर्थिक आधार पर किसान की स्थिति

4.2 आर्थिक विकास और अन्य सामाजिक समूह

समावेशी विकास की राजनीति और अन्य सामाजिक समूह

भारतीय समाज अलग-अलग जातियों और समुदायों मे बंटा हुआ समाज है। इसलिए किसानों की राजनीति मे जातियों की निर्णायक भूमिका है। किसानों के वर्गीकरण को सामाजिक और आर्थिक रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है, लेकिन भारत के संबंध मे मोटे तौर पर सामाजिक विभाजन के द्वारा वर्गीय विभाजन को भी समझा जा सकता है। कृषि क्षेत्र मे विकास की गति दूसरे क्षेत्रों (औद्योगिक और सेवा) के मुकाबले में अपेक्षाकृत कम है। कृषि को पूंजीवादी विकास उतनी तेजी से नहीं बदल पाया है जितनी तेज़ी से उसने उद्योग आधारित धंधे को बदला। कृषि के क्षेत्र मे स्थायी बंदोबस्त होने के बाद से बड़ी जोत का मालिकाना हक़ ऊंची जाति के लोगो के पास ही है और और मध्यम जोत का मालिकाना हक़ मध्यम जातियों के पास है। दलित समुदाय को अधिकतर खेतिहर मज़दूर के रूप मे जाना जाता है जो भूमिहीन है। भारत मे एक समुदाय जंगल और ऊँची स्थान विशेष से भी ताल्लुक रखता है जिसे आदिवासी-समुदाय के तौर पर जाना जाता है, ऐसी जगहों पर अधिकतर खेती सामूहिक रूप से की जाती है और उनकी अर्थव्यवस्था जंगल पर आधारित होती है। आजादी के बाद कृषि संबंधो को लेकर कुछ बड़े प्रयोग किए गए जैसे भूमिसुधार, लेकिन भूमिसुधार कुछ राज्यों को छोड़कर समूल रूप से जमींदारी प्रथा का उन्मूलन नहीं कर पायी। भूमिसुधार मे निहित प्रावधानों ने जाति आधारित समाज के कृषि मे क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किये। 'हरित क्रांति' जो भारत के बहुत कम हिस्से पर ही सफल हो पायी थी, इस नीति में भी कुछ ही जातियाँ सशक्त हो पायी जैसे पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा मे जाट और गुर्जर तथा पंजाब के मुख्यतः बड़े और मध्यम जोत वाले किसान को ही सशक्त करने का काम किया है। आर्थिक उदारीकरण के बाद नवउदारवादी नीति को खुले तौर पर सभी क्षेत्र मे लागू किए जाने लगा, उसके बाद भी कृषि क्षेत्र की सामाजिक संरचना बदलने मे नकामयाब रही और आज भी पुरानी समाजिक संरचना ही कृषि के क्षेत्र मे विद्यमान है। बल्कि आरक्षण ने राजनीतिक और सामाजिक तौर पर पिछड़ी जातियों को सशक्त करने मे अपनी जिस महत्वपूर्ण भूमिका को निभाया है जिसका प्रभाव कृषि क्षेत्र पर भी हुआ। इसलिए मध्यम जातियों और दलित जाति की पार्टियों के लिए कृषि क्षेत्र का महत्व आरक्षण की तुलना मे कम हो गया

है, इसलिए वहां भूमिसुधार जैसे मुद्दे पीछे छूट गए और वह सिर्फ वामपंथी पार्टियों तक ही सीमित रह गये।

भारत मे अलग-अलग सामाजिक समूहों का अलग-अलग प्रकार की समस्याए तथा संघर्ष का इतिहास रहा है। जातियों की अलग राजनीतिक मांग रही है। भारत मे जातियों का विकास भिन्न तरह के व्यवसाय मे लगे होने के कारण हुआ और यह तर्क जातिवादी वर्णाश्रम व्यवस्था का द्योतक भी बना। कृषि क्षेत्र मे मुख्यतः जमीन पर खेती करने के नाम पर बहुत कम जातियों का विकास हुआ, यद्यपि कृषि ही लोगो की आजीविका का साधन थी और आज भी आजीविका के लिए कृषि क्षेत्र मे देश की आधी आबादी लगी हुई है। देश में मुख्यतः कृषक जातियों के तौर पर कोइरी, कुर्मी, पाटीदार, कम्मा कापु और चेट्टियार इत्यादि जातियों का काम खेती करने से जुड़ा हुआ है।

पूंजीवादी विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह होती है कि वह पुराने सामाजिक संबंधो को ध्वस्त कर देती है और वहां नए प्रकार के सामाजिक संबंध समाज मे बनते है। भारत मे ईस्ट इंडिया कंपनी के आने के बाद 'एसियाटिक मोड ऑफ प्रॉडक्शन' मे बड़ा बदलाव आया जिससे ग्रामीण संरचना मे व्यापक परिवर्तन आये। शुंपिटर ने भी औद्योगिक विकास के क्रम मे 'सृजनात्मक विध्वंस'(Creative destruction) की बात की जिसको भारत सरकार ने 1990 के दशक मे नई औद्योगिक नीति को लागू करते समय कहा था। 1990 मे अपनाइ गई "नई आर्थिक नीति' मुख्यतः वैश्विक वित्तीय पूंजी की वकालत करता है, जिसको लोकप्रिय भाषा मे निजीकरण, उदारीकरण तथा वैश्वीकरण की नीतियों को अपनाना है जो विशालकाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितो को पूरा करती है। पूंजीवादी विकास मे हर एक चीज़ वस्तु (कोमोडिटी) होती है जिसके माध्यम से बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने लाभ को अधिकतम करती है। भारत मे 90 का दशक काफी उथल-पुथल का दशक था जिसमें एक नई आर्थिक नीति को अपनाया जा रहा था। उसी के साथ समाज के वंचित तबको के लिए लोकप्रिय भाषाओ मे नई योजनाओ को लागू किया जा रहा था। वैश्विक स्तर पर विश्व व्यापार संघटन की भी स्थापना 90 के दशक मे ही हुई जो अपने पहले समझौते मे ही कृषि के क्षेत्र मे किसानों को दी जाने वाली सहायता (सब्सिडी) को खत्म करने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है और कृषि वस्तुओं के व्यापार को बिना रोक-टोक के किसी देश मे व्यापार करने की छूट

दे दी जाती है। चूंकि भारत विश्व व्यापर संगठन का सदस्य है और इस कारण वह किसान विरोधी कानून को भारत के लिए मानने को बाध्य हो जाता है। इसके बाद भारत मे कृषि को दी जाने वाली सहायता मे भारी कटौती की जाती है, जिसका प्रभाव भारत के मध्यम और छोटे किसानों पर पड़ता है, और कृषि धीरे-धीरे घाटे का सौदा बन जाती है। कृषि से संबन्धित सभी आगत (खाद, बीज, बिजली और पानी इत्यादि) बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पाद बन जाते है और इसका सीधा प्रभाव किसानों के ऊपर पड़ता है और किसान कृषि संबंधी जरूरतों को पूरा करने के चक्कर में आहिस्ता-आहिस्ता कर्ज़ के जाल मे फँस जाता है। वर्तमान मे इसकी अभिव्यक्ति किसान आत्महत्या के रूप मे हो रही है। आत्महत्या की प्रवृत्ति भारत के लगभग सभी राज्यों मे देखने को मिल रही है, चाहे हरित क्रांति से लाभान्वित पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश हो या बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जीएम सीड से लाभान्वित राज्य महाराष्ट्र या कर्नाटक ही क्यो न हों। नवउदारवादी नीति के आने के बाद भारत के ग्रामीण संरचना, कृषि कार्य में भी काफी बदलाव आने लगा और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव भारत के सभी सामाजिक समूहों पर पड़ा।

4.1 आर्थिक आधार पर किसान की स्थिति

आजादी के 70 साल बाद भी भारत को कृषि प्रधान देश कहा जाता है, जबकि आर्थिक उदारीकरण के 25 साल से भी ज्यादा का समय बीत चुका है। जिसका प्रमुख उदेश्य भारत को औद्योगिक देश बनाना था। आज़ादी के समय सम्पूर्ण जनसँख्या के आधे से भी अधिक की आबादी कृषि कार्य में लगी हुई थी और वर्तमान समय में भी यह स्वरुप अभी तक बदला नहीं है। भारत एक लोकतान्त्रिक देश है जहां हरेक पांच साल में चुनाव होते है और यह तय होता है कि कौन सी पार्टी चुनाव जीत कर सत्ता में होगी। राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता में आने के लिए अपना चुनावी घोषणा पत्र जारी करती है, जिसके जरिये मतदाताओ को आकर्षित किया जाता है कि भारत में आधी आबादी जो आज भी कृषि कार्य में लगी हुई है, उसको लेकर राजनीतिक पार्टियां कृषि, किसान और उससे जुड़े समूहों को लेकर कई वादे करती है एवं सरकारी स्तर पर लोक-लुभावन नीतियां बनाती है। बजट में सत्ता पक्ष कई तरह की घोषणाएँ करता है और उसका क्रियान्वयन भी करने कोशिश करता है। विपक्ष सत्ताधारी पार्टी द्वारा किये गये वादे को लेकर आन्दोलन करती है तथा कृषि और किसानों से जुड़े मुद्दे को समय-समय पर उठाती

है। प्रश्न है कि प्रमुख राजीनीतिक पार्टियों के द्वारा आर्थिक उदारीकरण के दौर में कृषि को लेकर क्या नीति (घोषणा पत्र) रही है? इसके साथ ही यह भी पड़ताल करना जरूरी है कि किसानों का आर्थिक और सामाजिक आधार पर जो वर्गीकरण हुआ है उसका आर्थिक उदारीकरण के दौर में क्या भूमिका रही है?

प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के घोषणा पत्र और समावेशी विकास की राजनीति

29 मई 2018 को किसान संगठनों ने राष्ट्रपति को एक पत्र सौपा जिसमें मौजूदा कृषि संकट पर संसद का विशेष सत्र बुलाने का आग्रह किया गया। यह मांग किसान आंदोलन के लिए लड़ी जा रही लड़ाइयों में से एक नए तरह की मांग है। इस मांग के जरिये जो समभावित सत्र चलेगा उसमे दो प्राइवेट बिल को लेकर चर्चा करना था, जो संसद के दोनों सदनो मे प्राइवेट बिल के तौर पर पेश किया गया था, 'Farmers' Freedom for Indebtedness Bill 2018' and 'Farmers Right to Guaranteed Remunerative Minimum Support Prices for Agricultural Commodities Bill 2018'

उपरोक्त बिल 'प्राइवेट बिल' के तौर पर लोकसभा और राज्य सभा मे पेश किया गया जो इस इस बात का द्योतक है कि मौजूदा राजनीतिक पार्टी जो सत्ता मे है वो मौजूदा कृषि संकट संकट को लेकर कितनी असंवेदनशील है। मौजूदा कृषि संकट की अगर पड़ताल की जाय तो इसकी शुरुआत 1990 के बाद किए गए आर्थिक सुधार तथा 1995 मे डबल्यूटीओ के अंतर्गत कृषि को लेकर किए लेकर किए गए समझौते से होती है। उस समय सभी दक्षिणपंथी राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय पार्टियों द्वारा स्वीकार किया गया तथा लेफ्ट के पार्टियों के बहुत विरोध प्रदर्शन के बाद इसको लागू कर दिया गया। तथा जो वामपंथी पार्टियाँ सत्ता मे रही उनके द्वारा भी नवउदारवादी नीतियों को अपना लिया गया। देश मे सबसे ज्यादा समय सत्ता मे रहने वाली कांग्रेस पार्टी का अगर 2014 के घोषणा पात्र का अगर अवलोकन किया जाए तो मिलता है कि किसान के मुद्दे को दरकिनार किया गया और बाकी मुद्दो की तुलना मे कृषि तथा किसानों के कल्याण को कम महत्व दिया

गया। कांग्रेस पार्टी द्वारा अपने घोषणा पत्र मे कृषि संकट के निवारण के लिए उन्ही नीतिओ को शामिल किया गया जो कृषि संकट का कारण है।

'1. मल्टीब्रांड खुदरा में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति देने के लिए कांग्रेस के नेतृत्व में यूपीए सरकार का ऐतिहासिक निर्णय कृषि अर्थव्यवस्था को बदल देगा क्योंकि यह फार्म-टू-फोर्क से लाभकारी मूल्य श्रृंखला बनाएगा, जिससे क्रमबद्ध करने, ग्रेडिंग, पैकिंग, ठंढे भंडारण सुविधाओं और बर्तन आवास के लिए ग्रामीण बुनियादी ढांचा तैयार होगा. यह सुनिश्चित करेगा कि किसान को अपने उत्पादन के लिए कहीं अधिक मूल्य मिलेगा।

2. हम मूल्य-श्रृंखला, ठंडे भंडारण सुविधाओं, ग्रेडिंग और मानकीकरण, गुणवत्ता प्रमाणन और गोदामों में निवेश बढ़ाने के लिए सार्वजनिक निजी साझेदारी को पोषित करना जारी रखेंगे। यह कृषि उत्पादकता और निर्यात में वृद्धि में काफी मदद करेगा।

7. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस फसल बीमा योजनाओं का कवरेज बढ़ाएगी, खासकर छोटे और सीमांत किसानों और गैर-ऋण वाले किसानों के बीच। समय पर दावों का निपटान, प्रीमियम इत्यादि निर्धारित करने के लिए बेहतर फसल उपज अनुमान, और निजी क्षेत्र की भागीदारी फोकस के अन्य क्षेत्र होंगे.'[1]

काँग्रेस ने 2014 से पूर्व 10 वर्ष सत्ता में रहने के बाद जो चुनावी घोषणा पत्र जारी किया उसमें, कृषि क्षेत्र मे निजी कंपनियों का प्रवेश तथा किसानों को महज बीमा (इन्शुरेंस) तक ही सीमित कर देने का घोषणा किया गया जो किसानों की समस्या का प्रमुख कारण है। 'कृषि क्षेत्र मे एफ़डीआई के आने से किसानों की समस्या का समाधान नहीं हुआ बल्कि कृषि को और संकट मे जाना होगा, लेकिन कांग्रेस पार्टी द्वारा उसे "ऐतिहासिक निर्णय" कहा गया तथा बीजेपी जो मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली सरकार के समय विपक्ष मे थी उसने इसका विरोध किया था। तत्कालीन सरकार के ऊपर बीजेपी ने यह आरोप लगया कि विदेशी ताकतों के दबाव के कारण मल्टीब्रांड रीटेल सेक्टर मे एफ़डीआई लाया गया है। बीजेपी ने अपने घोषणा पत्र के कृषि वाले भाग मे एफ़डीआई के विरोध मे एक शब्द भी नहीं लिखें। क्योंकि बीजेपी ने चुनाव मे बेहतर औद्योगिक माहौल बनाने का वादा किया था और सत्ता मे आने के आने के बाद एफ़डीआई लागु

करने के सन्दर्भ में रीटेल सैक्टर के लिए रास्ता खोल दिया। काँग्रेस पार्टी के द्वारा बीजेपी पर किसान विरोधी होने का आरोप लगाया गया तथा काँग्रेस प्रवक्ता ने बीजेपी का चेहरा बेनकाब होना तथा गैरईमानदार पार्टी कहा।[2] क्योंकि बीजेपी जब विपक्ष मे थी तब एफ़डीआई इन मल्टीब्रांड रिटेल का विरोध किया था, लेकिन जब सत्ता मे आई तब इस नीति को लागू कर दिया और आरोप-प्रत्यारोप की राजनीति चलती रही लेकिन किसी भी पार्टी ने किसानों की समस्या को लेकर न ही राजनीति में और न ही अपने घोषणा पत्र में ही कृषि संकट को शामिल किया। जबकि किसानों की समस्या प्रमुख रूप से किसानों द्वारा लगातार की जा रही आत्महत्या, फसलों का उचित दाम न मिलना, कृषि क्षेत्र मे सब्सिडी का खत्म होना, कृषि का लगातार घाटे का सौदा और किसानों को ऋण मे फंसते जाना था। वामपंथी पार्टियों के घोषणा पत्र का मूल्यांकन किया जाए तो वहाँ कृषि के मौजूदा संकट का विस्तृत रूप से चर्चा तो किया गया है। सीपीएम ने 2014 के घोषणा पत्र मे निम्नलिखित मुद्दे को शामिल किया,

“समस्याओं में घिरा किसान”

किसानों ने पहले एनडीए सरकार की नीतियों की पीड़ा को सहन किया और बाद में यूपीए सरकार की नीतियों को। कृषि का निगमीकरण, सब्सिडी में कटौती और कृषि व्यापार में उदारीकरण के तहत हुए सार्वजनिक निवेश ने किसानों के बड़े वर्गों को परेशान किया है। 1996 से 2012 के बीच, ग्रामीण भारत ने 2.90 लाख से अधिक किसान आत्महत्याओं की भयानक घटना देखी। भूमि सुधार कानूनों में बदलाव और कृषि भूमि के जबरन अधिग्रहण ने कई किसानों को कृषि से दूर कर दिया है। 1991 से 2011 के दौरान पंद्रह लाख किसानों ने व्यवसाय छोड़ दिया है। नव उदारवादी नीतियों को त्यागे बगैर भारत के किसानों को एक सभ्य आजीविका और एक सुरक्षित भविष्य का आश्वासन् नहीं दिया जा सकता।

“कृषि श्रमिक: सर्वाधिक शोषित”

कृषि श्रमिकों की स्थिति लगातार खराब हुई है। एक के बाद एक, केंद्रीय सरकारों ने कृषि श्रमिकों के लिए मजदूरी और सामाजिक सुरक्षा लाभ के निर्धारण के लिए एक

व्यापक कानून लाने से इंकार कर दिया है। इस प्रकार कई राज्यों में कृषि श्रमिकों के लिए कोई वैधानिक रूप से निर्धारित न्यूनतम मजदूरी नहीं है। प्रति वर्ष कार्य दिवसों की संख्या में कमी आई है। ज्यादातर राज्यों में उनके पास कोई घर की जगह या घर नहीं हैं। कृषि महिला श्रमिकों की दुर्दशा और भी बदतर है। उनके पास कम दिन के काम है और वह सबसे ज्यादा पीड़ित हैं क्योंकि उन्हें बढ़ती कीमतों के मुकाबले परिवार का पेट भरना है."[3]

सीपीएम ने अपने घोषणा पत्र मे किसानों के मौजूदा हालत को लेकर लिखा है लेकिन किसानों के मुद्दो को राजनीति के केंद्र मे नहीं रख पाई। सीपीआई ने भी किसानों और कृषि को लेकर मत्वपूर्ण मुद्दे को उठाए।

"कृषि क्षेत्र"

सिंचाई, बीज और उर्वरकों जैसी सुविधाएं सभी किसानों को उचित मूल्य पर और कुछ मामलों में सब्सिडी वाली कीमतों पर उपलब्ध कराने के लिए, कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश में पर्याप्त वृद्धि। कृषि और खेती के लिए भूमि सुनिश्चित करने के लिए उग्र भूमि सुधार और भूमिहीनों को भूमि को वितरण। निजी बीज निगमों के पक्ष में लिए गये फैसलों को रोकना चाहिए, व्यापक और अनिवार्य फसल बीमा कवर जिसके लिए राज्य या केंद्र सरकार द्वारा प्रीमियम का भुगतान किया जाएगा;

छोटे और सीमांत किसानों को ब्याज मुक्त ऋण

कृषि उत्पादों के लिए लाभकारी एमएसपी

स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों का कार्यान्वयन

किसानों, कृषि मजदूरों और ग्रामीण कारीगरों सहित सभी के लिए 3,000 रुपये प्रति माह पेंशन; और कृषि श्रमिकों के लिए केंद्रीय कानून का अधिनियमन। राज्य और केंद्र सरकारों में कृषि के लिए अलग बजट."[4]

सीपीआई भी किसानों और कृषि को लेकर कई मुद्दो को शामिल करने के बाद भी इन मुद्दो पर रणनीतिक गोलबंदी करने मे नाकामयाब रही और महत्वपूर्ण कृषि संकट से जुड़े सवाल सिर्फ घोषणा पत्र तक ही सीमित रह गए।

कृषि संकट को लेकर पिछले कई वर्षों से किसान आंदोलनरत है जिसमें किसानों की प्रमुख मांग कृषि ऋण को माफ करने से लेकर फसलों का उचित मुआवजा के संदर्भ में रहा है। महाराष्ट्र मे हजारो की संख्या मे किसानों को कई मील की पदयात्रा करने के बाद एक बार फिर से कृषि संकट को भारतीय राजनीति के विषय का हिस्सा बना, लेकिन वर्तमान समय के कृषि मंत्री ने किसान को "राजनीति मे शामिल" होने का आरोप लगया। जिसका अर्थ यह है कि किसानों को राजनीति के हाशिये पर धकेल दिया गया है और वह अपने हक़ की कोई राजनीति नहीं कर सकते हैं।यह राजनीतिकअदुर्दार्शिता हीं है कि किसानों और कृषि संकट पर आंदोलन करने पर "राजनीति" करने का आरोप लगा दिया जाता है। आर्थिक उदारीकरण के दौर मे "राजनीति" करना नकारात्मक कार्यवाही हो गई है, क्योंकि जैसे ही कृषि संकट पर किसान लामबंद होते है तो उन पर राजनीति करने का आरोप लगा कर शासक वर्गीय पार्टियां किसान को बाकी जनता से काट देने की पुरजोर कोशिश करने लगती है। जिससे किसानों के आंदोलन को मिल रहे समर्थन को खत्म किया जा सके। 1990 के बाद भारत को औद्योगिक देश बनाने का सपना तो अधूरा रह गया और न ही भारत कृषि प्रधान देश ही रह पाया।

1995 मे डबल्यूटीओ का सदस्य बनने के बाद भारत की कृषि का डबल्यूटीओ के नियमों के तहत नियमन होने लगा तथा सत्ताधारी पार्टी सदैव डबल्यूटीओ के नियमो को लागू करने को आमादा रही है, कुछेक मुद्दो को छोड़ कर। नवउदारवादी नीतियों का प्रभाव 1990 के बाद से बढ़ने लगा जिसके तहत किसानों को लगातार दी जाने वाली सब्सिडी को निरंतर कम करना तथा कृषि क्षेत्र मे काम रही संस्थाओ को क्रमशः कमजोर करते जाना रहा है। प्रभात पटनायक का कहना है कि नवउदारवादी नीतियों ने कृषि को कमजोर कर दिया है। अगर कृषि को फिर से उबरना है तो कृषि क्षेत्र मे संस्थाओं की प्रणाली को मजबूत करना होगा।[5] कृषि ऋण के माफी लेकर पिछले दशक से लगातार मांग हो रही है तथा सरकार ने 2009 में कृषि ऋण को बड़े पैमाने पर माफ भी किया तथा कांग्रेस ने इसको बड़ा चुनावी मुद्दा भी बनाया। अपने घोषणा पत्र मे कहा की इससे 3.50 करोड़ किसान के परिवारों को फायदा भी हुआ है।[6]

एक तरफ सरकार किसानों के कर्ज़ को माफ कर रही है, तो वही सरकारी अर्थशास्त्रियों के द्वारा कर्ज़ माफी के निरंतर विरोध मे लेख लिखे जा रहे है जिनका प्रशिक्षण वर्ल्ड बैंक, आईएमएफ़ औए डबल्यूटीओ के नौकरशाह के रूप मे रहा है। यही संस्थाए नवउदारवाद की नीति को लागू करने के लिए सदस्य देश को बाध्य भी करती है। नवउदारवाद के समर्थकों का कहना है कि किसानों की ऋण माफी से उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा और किसान उत्पादन के लिए प्रोत्साहित नहीं होंगे तथा बाज़ार की प्रतिस्पर्धा मे भी कमी आयेगी है। साथ ही सरकार का राजकोषीय घाटा भी बढ़ जाता हैं, जो सरकार के बजट को असंतुलित कर देता है। मौजूदा कृषि संकट की पड़ताल करने के लिए 1960 के दशक मे हुये कृषि संकट तथा उसके समाधान के लिए हरित क्रांति की पड़ताल करनी होगी क्योंकि उस समय सरकार कृषि संकट को टालने के लिए पूरा पैकेज लेकर आई थी जिसमें कम व्याज पर कृषि ऋण से लेकर एमएसपी, उत्पादन का सरकार द्वारा खुद खरीददारी करना और फसलों का उचित मूल्य प्रदान करना। जिससे कुल उत्पादकता मे वृद्धि हुई और देश के अंदर क्षेत्रीय असमानता को खत्म भी किया गया। लेकिन बेहतर प्रबंधन की व्यवस्था नहीं होने से पर्यावरण संकट बढ़ता गया तथा जलस्तर लगातार नीचे जाने लगा। 1990 में उदारीकरण को लागू करने के बाद भारत के बाज़ार का अंतर्राष्ट्रीयकरण होने तथा डबल्यूटीओ की नीतियों को अपना लेने से किसानों को दी जाने वाली सहायता को लगातार कम करते जाना रहा है। विकसित देशो द्वारा विकासशील देशो पर डबल्यूटीओ मे लगातार ये आरोप लगाया जाता है कि विकासशील देश अपने देश के किसानों को सहायता प्रदान करते है। तथा अमेरिका ने भारत के ऊपर तो डबल्यूटीओ मे ये आरोप लगाया गया कि भारत तय सीमा से ज्यादा किसानों की सहायता कर रहा है।

"ऐसा प्रतीत होता है कि भारत WTO को दी गयी जानकारी से कहीं ज्यादा बाजार मूल्य समर्थन (एमपीएस) गेहूं और चावल के लिए प्रदान करता है, गेहूं के लिए भारत का प्रत्यक्ष एमपीएस पिछले चार वर्षों में जिनके लिए भारत ने डेटा अधिसूचित किया है, उत्पादन के मूल्य का 60प्रतिशत से अधिक प्रतीत होता है । चावल के लिए इसका स्पष्ट एमपीएस 70प्रतिशत से अधिक प्रतीत होता है."[7]

जबकि डबल्यूटीओ के नियमो के अंतर्गत किसानों को किसी भी प्रकार की दी जाने वाली सहायता 10 प्रतिशत से ज्यादा नहीं हो सकती है। इसलिए सरकार लगातार सब्सिडी को खत्म करती जा रही है। किसानों के लिए फसल की लागत लगातार बढ़ती जा रही है और कृषि वस्तुओं की कीमत कम होती जा रही है या फिर फसलों का बाज़ार मे कीमत क्रैश हो जा रहा है। दूसरे देशो से कम कीमत मे कृषि वस्तुओं का आयात होना भी फसल के उचित दाम न मिल पाने के पीछे एक बड़ा कारक है। जिससे किसानों को बाज़ार मे उनकी लागत से कम कीमत पर फसलों को बेचने पर मजबूर होना पड़ रहा है। सरकार द्वारा किए गए प्रयासों की बात की जाए तो हाल के वर्षो मे सरकार द्वारा एमएसपी मे बढ़ोत्तरी लागत बढ़ने के अनुपात मे कम हुआ है। एमएसपी की घोषणा वैसे भी बहुत कम कृषि वस्तुओं (सिर्फ 26) पर की जाती है और उसमे भी इसकी पहुँच किसानों के एक बहुत छोटे हिस्से तक ही है और छोटे, मंझोले किसानों तक तो इसकी पहुँच न के ही बराबर है। जिससे छोटे और मझोलें किसानों को बाज़ार मे बेचने पर मजबूर होना पड़ता है और एमएसपी से कम कीमत पर बेचने को बाध्य होना पड़ता है। CRISIL ने अपने अध्ययन मे यह पाया की 2009 से 2013 के बीच मे एमएसपी मे 19.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकी 2014 से 2017 के बीच 3.6 प्रतिशत ही वार्षिक वृद्धि रही है, जो किसानों के डिस्ट्रेस का एक प्रमुख कारण है। अगर दाल का उदाहरण ले तो दाल के उत्पादन की लागत मे 2015-16 के 2.8 प्रतिशत की तुलना मे 2016-17 मे 3.8 प्रतिशत की लागत मे वृद्धि हुई है जबकि एमएसपी मे बहुत कम वृद्धि हो पायी है, जिससे किसानों की आय मे कम वृद्धि हुई है।[8]

आज किसान अपनी समस्या के समाधान के लिए क्रॉप पैटर्न को बदल रहे है फिर भी मौजूदा कृषि संकट का समाधान नहीं हो पा रहा है। मध्यप्रदेश के किसान जब प्याज की खेती करने लगे तो उनको प्याज की फसल का उचित दाम नहीं मिल पा रहा था, तब किसानों ने लहसुन की खेती करना चालू किया क्योंकि बाज़ार मे प्याज की तुलना मे लहसुन की उचित कीमत मिलती था। किसानों ने '2016-17 के 92000 हेक्टेयर की तुलना मे 2017-18 मे 1.28 हेक्टेयर क्षेत्रफल पर लहसुन की खेती किया और लहसुन के उत्पादन मे रिकॉर्ड उत्पादन हुआ लेकिन लहसुन का बाज़ार भाव गिरकर 1 रुपए प्रति किलोग्राम हो गया, किसानों को फिर खेती में घाटा उठाना पड़ा'[9]। लहसुन की खेती

करने वाले एक किसान ने कहा कि सरकारी मंडी की तुलना मे प्राइवेट मंडी मे कीमत मे काफी अंतर होता है तथा प्राइवेट मंडी मे परिस्थिति बहुत ही खराब है।

कैश क्रॉप के अंतर्गत अगर लहसुन की खेती का विश्लेषण किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि क्रॉप पैटर्न बदलना तथा कैश क्रॉप भी मौजूदा कृषि संकट के समस्या का निवारण नहीं है। मध्यप्रदेश सरकार ने 'भावांतर भुगतान योजना' के अंतर्गत लहसुन को शामिल किया। जिसमें सरकार ने घोषणा की कि लहसुन की कीमत 3200 रुपये प्रति क्विंटल होगी, जबकि किसानों को 1600 प्रति क्विंटल के नीचे ही रहने को मजबूर होना पड़ा तथा सरकार द्वारा किए गए प्रयास असफल होते दिखाई पड़ने लगे। क्योंकि व्यापारी मंडी मे अपना कारतेल बना कर कीमत को कृत्रिम रूप से कम कर देते है। वैसे सरकार ने उस पर एमएसपी की घोषणा कर रखी है जिसकी वजह से व्यापारी किसानों से बाकी की कीमत सरकार से मांगने को कहता है। क्योंकि भावांतर भुगतान योजना के अंतर्गत बाज़ार मे कीमत कम होने पर सरकार को भुगतान करने का प्रावधान किया गया है। किसानों का यह भी कहना है कि भावांतर योजना के पहले कीमत बेहतर थी। तथा कीमतों के गिरने का प्रमुख कारण लहसुन का इस योजना मे शामिल होना है। तथा इस योजना के पहले लहसुन कि कीमत 3000-3500 प्रति क्विंटल के बीच मे रहती थी और इस योजना ने व्यापारियो को कीमत कम करने का बहाना दे दिया। अब किसानों ने सरकार से सीधे यह मांग की है कि सरकार किसानों से सीधे लहसुन की खरीददारी 3200 रुपये प्रति क्विंटल करे क्योंकि किसानों को मंडी मे लहसुन का उचित कीमत नहीं मिल पा रहा है।[10]

मध्यप्रदेश के किसानों की हालत इतनी खराब हो गयी है कि जून 2017 मे किसानों ने मंदसौर मे एक धरना किया जिसमें पुलिस ने धरना करने वाले वाले लोगो पर गोलियां चलाई और 5 किसानों की गोली लगाने से मौत भी हो गयी। किसानों का धरना बैंक ऋण को पूरी तरह से माफ करने तथा मंडी मे फसलों के उचित दाम मिलने को लेकर था। इस घटना के बाद राजनीतिक पार्टियों द्वारा फिर से किसान मुद्दा बनता है और कांग्रेस (विपक्ष) के अध्यक्ष ने कहा कि बीजेपी ने किसानों के ऊपर युद्ध छेड़ रखा है, कांग्रेस के मध्यप्रदेश के नेताओं ने उस दिन को "काला दिन" घोषित किया और मध्यप्रदेश सरकार से इस्तीफे की मांग की क्योंकि वर्तमान मुख्यमंत्री स्वयं को किसानों का बेटा

कहते है। बीजेपी ने किसानों के सवाल पर ही कांग्रेस को सत्ता से 15 साल से दूर रखा है।[11]

सरकार की बड़ी-बड़ी योजनओं के गगनभेदी नारों के बाद भी किसानों की आत्महत्या कम नहीं हो रही है। बीजेपी (विपक्ष) ने कर्नाटक के चुनाव(2018) मे कांग्रेस (सरकारी पक्ष) पर यह आरोप लगया कि कांग्रेस किसानों की लगातार हो रही आत्महत्या को लेकर कुछ नहीं कर रहीं हैं जबकि कर्नाटक किसानों के आत्महत्या का "एपिक सेंटर" है। कर्नाटक में पिछले चार सालो मे 3781 किसानों ने आत्महत्या की है।[12] तो वही मध्यप्रदेश मे कांग्रेस (विपक्ष) ने बीजेपी पर यह आरोप लगाया की मद्यप्रदेश मे 1300 किसानों प्रतिवर्ष आत्महत्या कर रहें हैं और बीजेपी सरकार किसानों के ऊपर गोलिया चलवा रही है। देश के किसान संगठनों ने 10 दिन के हड़ताल मे अपने प्रमुख मांग के रूप मे संपूर्ण रुप से कर्ज़ माफी, फसलों के लिए उचित मूल्य, भूमि सुधार तथा सिंचाई के लिए मुफ्त बिजली की मांग की है।[13]

कैराना मे हुये उपचुनाव (May 2018) मे एक बार फिर से गन्ना के किसानों की सामस्या प्रमुख मुद्दा बनकर सामने आया और इस मुद्दे की वजह से राष्ट्रीय लोक दल की उम्मीदवार को चुनाव में जीत भी मिली। आरएलडी का जनाधार पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गन्ना किसानों के बीच मे है, जो सामाजिक रूप से जाट जाति से आते है जो मध्यम किसान है तथा उनमे कुछ बड़ी जोत वाले भी किसान है, जो पारंपरिक रूप से अपने आप को किसान के रूप मे वर्गीकृत करते रहे है और जाटों के नेता चौधरी चरण सिंह को किसान राजनीति के तौर पर पहचाना जाता रहा। कैराना उपचुनाव जीतने के बाद आरएलडी के उपाध्यक्ष के कहा कि,

"मुझे लगता है कि, बड़े पैमाने पर, यह परिणाम राष्ट्रीय स्तर पर देश में किसान राजनीति के पुनर्जन्म को दर्शाता है। आरएलडी इसकी एकमात्र मशाल नहीं होगी। लेकिन जैसे हमने गन्ना किसानों के मुद्दे को उठाया, अन्य पार्टियां मॉडल का अनुकरण करेंगी। हम बिजली शुल्क और गन्ना भुगतान पर हमारी आक्रामक, आंदोलनकारी राजनीति जारी रखेंगे।"[14]

10 दिन के किसानों के हड़ताल मे कुल 172 संगठनों ने हिस्सा लिया। जिसने कृषि संकट को खुलकर सामने ला दिया। कृषि संकट पर किसान पहले व्यक्तिगत स्तर पर जूझता था बाद मे हारकर आत्महत्या कर लेता था। नवउदारवादी नीतियों को कृषि क्षेत्र मे अपनाने के बाद कृषि संकट बड़े पैमाने पर चालू हुआ और किसानों मे आत्महत्या की दर तेजी से बढती चली गई। क्योंकि नवउदारवादी नीतियां एक प्रकार की चक्रव्युह रचती है तथा किसानों को पूरी तरह से अपने जाल मे फंसा लेती है जहा पर कोई भी व्यक्तिगत स्तर पर किया गया उपचार कृषि संकट तथा किसानों की समस्या का समाधान नहीं कर पाता है। परन्तु 172 छोटे बड़े किसानों के संगठन ने अपने आप को संगठित कर लिया है जो कृषि संकट का राजनीतिक समाधान चाहते है। किसान एकता मंच के देवेंद्र शर्मा कहते है कि,

"हमें लगता है कि सरकार और शहरी अभिजात वर्ग को जागृत करना महत्वपूर्ण है, जो कि इस कृषि संकट से पूरी तरह से कट चुका है .... राष्ट्र को किसानों के महत्व को समझना चाहिए"[15]

किसानों की लगातार हो रही आत्महत्या को अभी तक सरकार रोक नहीं पायी है क्योंकि कृषि संकट की समस्या को बहुत सतही तौर पर तथा अस्थाई तौर पर समाधान करने की कोशिश राजनीतिक पार्टीयों द्वारा की जाती रही है। अधिकतर राजनीतिक पार्टियों द्वारा नवउदारवादी वादी नीतियों पर एक सहमति है, चाहे वो पक्ष मे हो या विपक्ष मे या तो राष्ट्रीय पार्टी रही हो या क्षेत्रीय पार्टी रही हो। सभी पार्टियों ने डबल्यूटीओ के अंतर्गत किए गए समझौते को स्वीकार कर लिया है और इन्ही समझौते मे कुछ रियायत देने कि कोशिश चल रही है। मौजूदा कृषि संकट कोई अस्थाई या स्थानिक संकट नहीं है बल्कि यह संकट संरचनात्मक और पूंजीवाद के संकट से जुड़ा हुआ है। पूंजीवाद आज तेजी से कृषि का वैश्विकरण करता जा रहा है तथा कृषि के क्षेत्र मे बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का प्रवेश हो रहा है। डबल्यूटीओ के नियमों के अंतर्गत किसानों को सहायता नहीं दी जा सकती, तब विकसित देशो से होने वाले सस्ते आयातित कृषि वस्तुओं के सामने छोटे मझोले किसानों और विकासशील देशो को प्रतिस्पर्धा मे टिक पाना मुश्किल है क्योंकि उकृषि की लागत बेतहाशा बढ़ती जा रही है। पूरे देश मे प्रमुख रूप से मध्यप्रदेश, तमिलनाडू, पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश में किसानों ने अपने को संगठित किया और मौजूदा किसानों के हालात को प्रमुख राजनीतिक सवाल को बनाने

का प्रयास कर रहे है। इस संबंध में कई तरह के आंदोलन कर के जनता और सरकार को अपनी समस्या से अवगत करा रहे है। तमिलनाडू के किसानों ने दिल्ली मे आकर अपना विरोध प्रदर्शन किया जिसमें मरे हुये किसानों के कंकाल को अपने गले मे पहन कर आंदोलन करना हो या मरे हुये चूहो को अपने दातों मे लेकर या अपना मूत्र पीकर प्रधानमंत्री आवास के पास विरोध प्रदर्शन करना हो, इन सभी तरह के आंदोलनों को करने के बाद भी उनसे कोई भी मंत्री बात करने नहीं आता है और न ही प्रधानमंत्री के द्वारा किसानों को लेकर कोई बयान ही दिया जाता है। महाराष्ट्र जहाँ पर पिछले एक दशक से किसानों के द्वारा आत्महत्या की जा रही है वहाँ पर भी कांग्रेस के उस समय के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के यात्रा करने के बाद भी किसानों की आत्महत्या की दर रुकती नहीं है। नए दौर में किसानों ने अपने को संगठित करते हुये हजारों की संख्या मे कई किलोमीटर पैदल चल कर सारी राजनीतिक पार्टियों को मजबूर किया किसानों को लेकर राजनीतिक तौर पर समर्थन देने के लिए और सभी राजनीतिक पार्टियों द्वारा किसानों के लॉन्ग मार्च का समर्थन भी किया और सरकार को भी किसानों के प्रतिनिधियों से मिलने को बाध्य होना पड़ा। राजस्थान के सीकर मे भी बहुत ज्यादा संख्या मे किसानों ने सड़क पर उतर कर अपने मौजूदा कृषि संकट को लेकर विरोध प्रदर्शन किया। पंजाब के किसानों ने भी कृषि वस्तुओं को सड़कों पर फेंक कर अपना विरोध प्रदर्शन जताया। किसान अपने कृषि वस्तुओं को लेकर जब मंडी गए तब वहाँ पर किसी को उचित दाम नहीं मिला तो किसानों ने मंडी से बाहर निकल कर सब्जी, दुध इत्यादि वस्तुओं को सड़क पर फेंककर अपना विरोध प्रदर्शन किया। पंजाब मे भी किसानों के आत्महत्या की दर ज्यादा है क्योंकि कृषि आगतों का लगातार महंगा होते जाना तथा किसानों का ऋण लगातार बढ़ते जाना रहा है। किसान देश के अलग अलग क्षेत्र मे अपना विरोध प्रदर्शन कर रहे है और कृषि संकट को राजनीति के परिधि मे लाने की कोशिश भी कर रहे है। 1990 के बाद से ही किसान की राजनीति को क्रमशः हाशिये पर धकेल दिया गया और किसान अस्मिता का विघटन भी अलग-अलग सामाजिक समूहों मे होता चला गया। विकास की परिभाषा मे कृषि को शामिल नहीं किया गया, अगर कृषि पर कहीं बात भी प्रमुख रूप से हो रही है तो उसे भी कृषि के निजीकरण तथा निगमीकरण तक ही सीमित कर दिया गया। पूरी की पूरी पारंपरिक कृषि की जगह नई आधुनिक तरीके से खेती करने पर ज़ोर दिया जाने लगा। इसलिए नवउदारवादी नीतियों के साथ-साथ कृषि संकट का समाधान एक विरोधाभाषी समझ है, दोनों एक साथ नहीं

चल सकता। इसलिए किसानों को अपने छोटे-छोटे सामाजिक समूहों को बढ़ा कर किसान अस्मिता के नाम पर एक आक्रामक राजनीति को ऋण माफ करने से आगे ले कर जाना होगा। जिसमें निश्चित तौर पर डबल्यूटीओ के अंतर्गत किए गए समझौते को रद्द करना एक प्रमुख मांग हो नहीं तो अंतरराष्ट्रीय परिस्थियों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दबाव मे किसानों को दी जाने वाली सहायता धीरे-धीरे खत्म होती जाएगी और कृषि संकट गहरा होता जाएगा।

4.2 आर्थिक विकास और अन्य सामाजिक समूह

अलग-अलग सामाजिक समूहों[1] को लाभान्वित करने के लिए सरकार द्वारा कई प्रकार की योजनाए चलाई गई है। इन योजनाओं का प्रभाव बाजार के प्रभाव के आगे बेअसर रहा। सामूहिक तैर पर किसानों की राजनीतिक चेतना को एक रूप देने मे सभी राजनीतिक पार्टियाँ प्रायः असफल रही हैं। इसका बड़ा कारण भूमिसुधार का न होना था क्योंकि आर्थिक और सामाजिक संरचना मे अभी भी किसानों के समूह के भीतर सामंती रिश्ते विद्यमान है जिसके कारण सभी किसान समूहों को एक साथ आकर आंदोलन खड़ा करने मे कठिनाई हो रही है। उत्तर भारत मे 1990 के बाद मध्यम वर्ग के किसानों का राजनीतिक सशक्तिकरण होने के बावजूद उनके ऊपर नवउदारवादी नीतियों का प्रभाव बढ़ा जिसके कारण उनका गाँव से शहरों की तरफ पलायन तेज़ी से शुरू हो जाता है। इस पलायन की प्रकृति पुरुष झुकाव वाली रही है जिसके कारण वर्तमान समय की कृषि में महिलाओं का एक सीधा प्रभाव दिखाई दे रहा है। किसानों के रूप मे स्त्री का एक समूह के रूप मे देखना भारतीय सामाजिक परिस्थितियों के हिसाब से अलग-अलग सामाजिक समूहों के भीतर अलग-अलग है मसलन दलित और आदिवासी महिलायें कृषि मजदूरी का काम करती है और बड़े कृषि जोतदारों के गहर की महिलाएं कृषि के बहरी कामों में श्रम मनहिं करती हैं। कृषि में लगें महिला किसान, खेतिहर मजदुर को पुरुष मजदूर की तुलना मे कम मजदूरी दी जाती है जिसको लेकर कोई राजनीतिक आंदोलन भी किया नहीं किया जाता है। मनरेगा (जहाँ महिला पुरुष दोनों के लिए समान मजदूरी) के लागू होने से कृषि मजदूरो को मजदूरी बढ़ी तो जरूर, लेकिन महिलाओ और पुरुषो के मजदूरी मे अभी भी बड़ी खाई मौजूद है। बड़े किसान कृषि को अपना प्रमुख व्यवसाय होने के

[1] सामाजिक समूह से तात्पर्य भारत की सामाजिक संरचना जैसे आदिवासी, दलित(लगभग भूमिहीन या सीमांत किसान), मध्य वर्गीय किसान(औसत दर्जे के के भूमिधारक) का समूह तथा बड़े किसान(बड़ी जोत) तथा स्त्री समूह

बजाय गैर कृषि व्यवसायों की तरफ जा रहे है और अपनी जमीन को बटाई के रूप मे भूमिहीन किसान को दे रहे है। समावेशी विकास के नाम पर जहा एक तरफ नवउदारवादी नीतियों को लागू किया जा रहा है तो दूसरी तरफ एक बड़ी आबादी को 'इंडस्ट्रियल रिजर्व आर्मी' मे बदला जा रहा है। कृषि को भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले कर दिया जा रहा है जिसके सन्दर्भ में मार्क्स का प्रचलित कथन है कि पूंजीवादी विकास किसानों और पेट्टी बूर्जूआ के लिए विनाश लाता है।

भारत जैसे विभिन्न परम्पराओं एवं संस्कृतियों की बहुलता वाले समाज को समझने की जो दृष्टि है वह देश के अन्य सामाजिक समूह की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास प्रक्रिया से कोसो दूर है। आज़ादी एवं उसके बाद से विकास की जो प्रणाली अपनाई गई उस प्रणाली में हीं अभिजन और अन्य सामाजिक समूह के आपसी द्वंद मौजूद है। समाज विज्ञान में सामाजिक वर्ग, सामाजिक स्तरीकरण की चर्चा की जाती रही है। यह स्तरीकरण वस्तुतः सामाजिक समूह, सामाजिक अन्तः क्रियाओं की ही एक व्यवस्था है। अर्थात सामाजिक समूहों का निर्माण समाज में मौजूद अंतःक्रियाओं के द्वारा ही संभव हो पाता है, समाजशास्त्र विषय के तौर पर इस स्तरीकरण समूहों के अंतःक्रियाओं का अध्ययन करता है। समाज वैज्ञानिक जॉनसन् का कथन है कि 'समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है', उनके अनुसार समाज की धारणा बहुत विवादपूर्ण है, इसलिए समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए।

समावेशी विकास की नीति के तहत अलग-अलग सामाजिक समूहों को लाभान्वित करने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की योजनाएँ चलाई जाती है, परंतु इन सभी योजनाओं का समुचित लाभ उन समूहों को नहीं मिल पाता है। बाज़ार और राजनीतिक अनिच्छा उन नीतियों को कमजोर कर खोखला बना देती है। भारतीय समाज की जो तस्वीर हम सबके जेहन में उभरती है वह तस्वीर मुक्कमल तभी होगी जब उसमें भारत के सभी तबके का प्रतिनिधित्व शामिल हो। भारतीय समाज के सम्पूर्ण विकास के लिए सबकी सहभागिता से ज्यादा जरूरी समूहिक विकास दृष्टि की है। क्योंकि समाज के किसी दूसरे अंश को छोडकर अगर असंतुलित विकास किया जाता है तो वह

सामाजिक रूप से पिछड़ेपन की निशानी होगी। इसलिए जरूरी है कि समाज के चहुंओर विकास के लिए सभी वर्गों को ध्यान में रखकर बनाए गए विकास-नीति की जरूरत है।

सामाजिक विकास का अर्थ समाज के सभी अंगों के राजनीतिक, आर्थिक,सांस्कृतिक और सामुदायिक विकास से है। महिलाएं हमारे समाज की बराबर की भागीदार है। यह समाज जितना पुरुष का है उतना ही स्त्री का भी है, लेकिन सामाजिक अनुशासन् में हम देखते है महिलाओं की भागीदारी वर्तमान समय में भी उतनी संतोषजनक नहीं जितनी की अपेक्षाकृत होनी चाहिए। समाज में महिलाओं की भूमिका निर्धारित कर दी गई है और यह निर्धारण महिलाओं ने नहीं बल्कि पितृसत्तात्मक समाज ने किया है। भारतीय समाज में व्यक्तित्व और चरित्र की परिभाषा सिर्फ पुरुष के लिए सुरक्षित है, महिलाओं के लिए उसकी वर्जना सबसे अधिक है। महिलाओं के चरित्र को लेकर समाज ने एक सीमा रेखा खींच रखी हैं, सीमा रेखा को पार करने के बाद समाज उसको गलत सिद्ध करने में लग जाता है और इसके लिए पुरुष समाज अपने तर्क भी विकसित कर लेता है ... 'सामाजिक बंधन इसलिए जरूरी है कि अराजकता न फैले, इसलिए भी कि पशुओं कि तरह हमरी सारी एनर्जी इसी आहार, निंद्रा, भाय और मैथुन में ही न जाया हो जाए[16]'।

कथा साहित्य में महिलाओं को लेकर अधिकतर नैतिक दृष्टिकोण को अपनाया जाता है और उसके साथ दबी हुई पुरानी आशंकाओं के तर्क को मजबूत करने के लिए रख दिया जाता है। 1990 के बाद के कथा साहित्य में महिलाओं को लेकर नए विमर्श विकसित हुये है और उसकी अभिव्यक्ति कथा साहित्य में हुई है। संजीव द्वारा रचित उपन्यास 'फांस' स्त्री के प्रश्न को ग्रामीण और शहर के बीच के समझ को लेकर जो अंतर है वहाँ से देखने कि कोशिश करता है। अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन कि संकटों से मुक्ति की जद्दोजहद में स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक धार्मिक-संस्कारों की बेड़ियों को तोड़ते हुए अपनी नयी सामाजिक पहचान हासिल करने की कोशिश करती हुई दिखलाई पड़ती हैं। 'फांस' में विजयेन्द्र और कलावती के संवाद से नए दौर के कुछ विमर्श स्पष्ट होते हैं स्त्री पक्ष की तरफ से कि वह क्या सोच रही है और समाज को कैसे देख रही है।

"हम सदियों से इस झूठ को ढोए जा रहे हैं, रिचुअल्स सा हो गया है जैसे सारी कहा, जैसे कोर्ट या राजघाट पर जाकर झूठी कसमें खाना। यह कैसे संभव है कि हम एक को छोड़ कर दूसरे को चाहे ही नहीं। मिले न मिले अलग बात है'। आगे विजयेन्द्र सवाल करता है- 'आज अगर अशोक आ जाए तो क्या करोगी? कलावती जवाब देती है-' अशोक? वही क्यों, पूरी जिंदगी में और भी आ जाए, तुम्हारे भी हमारे भी'। जाहिर है कि यहाँ स्त्री-पुरुष संबंधों की नैतिकता के नए स्वरूप का स्वीकार भी है। विजयेन्द्र कहता है-'सोचकर अजीब लगता है, क्या तुम उसी बाप की बेटी हो जो तुम्हारी वर्जिनिटी, तुम्हारी आबरू के प्रति इतना सेंसिटिव रहा कि आत्महत्या ही कर बैठा। इसे कैसे समझें- ऐक्शन का रिएक्शन!' कलावती जवाब देती है- 'सदियों के थोपे गए इन मूल्यों के तले दब कर रह गया है हमारा सहजबोध जैसे ये ऋणवादी मूल्य। शास्त्रों में दबाव बनाया जाता है कि कर्ज़ अदा किए बिना मारे तो मुक्ति नहीं होगी। जरूरत थी, मजबूरी थी, कर्ज़ लिया, न दे पाये, जान दे दी, मरने के पहले तिल-तिल कर मरते रहे'।"[17] इस संवाद के संदर्भ में आलोचक सुधीर सुमन लिखते है कि 'यह एक किस्म का सामान्यीकरण है, जो धार्मिक अस्थाओं और अंधविश्वासों की तीव्र प्रतिक्रिया में निर्मित हुआ है। कर्ज़ अदा न करने के अपराधबोध में आत्महत्या तो खुद ही इस तर्क का निषेध है, कि 'कर्ज़ अदा किए बिना मरे तो मुक्ति न होगी', कोई भी धर्मभीरु ऐसा क्यों करेगा? अगर धर्मशास्त्र ने ऋणवादी मूल्यों का दबाव बनाया है, तो आत्महत्या तो उस दबाव का प्रतिकार हुआ न?'[18] 'आखिरी छलांग' उपन्यास में भी पहलवान यही तर्क देता है छलांग लगाने से पहले.

आज बढ़ती हुई लोकतांत्रिक चेतना का दबाव और विभिन्न नारीवादी व प्रगतिशील आंदोलनों के प्रभावस्वरूप, स्त्रियों के पक्ष में उनकी संरक्षा और सुरक्षा के लिए भारतीय समाज के क़ानूनों में व्यापक फेरबदल हो रहे हैं। आज स्त्रियों के प्रश्न को छोडकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। समाज के अंदर चल रहे बदलाव के जो संकेत निकलकर आ रहे हैं वह कथा-साहित्य में भी दर्ज हो रहें हैं लेकिन इसकी संख्या कम है। पिछले दो दशकों के कथा-साहित्य में खोजबीन के बाद दिखाई पड़ता है कि महिला कथाकार के तौर पर केवल अनीता भारती ही है जिन्होंने 'बीज बैंक' नामक कहानी

सृजित की, जो किसानों की समस्या पर आधारित है। दूसरे उपन्यासों-कहानियों में महिलाओं की उपस्थिति है लेकिन वह उपस्थिति उन्हे प्रतिनिधित्व का मौका नहीं दे पा रही है। अगर हम 'बीज बैंक' कहानी की हीं समीक्षा करें तो पाते है कि कहानी अंतर्वस्तु में अपने महिलाओं की उपस्थिति और उनकी भूमिका के अभिव्यक्ति को कम ही सामने ला पाती हैं। कहानी जब अपने निष्कर्ष पर पहुँचती है तो वहाँ बीज की समस्या से निपटने के लिए सहकारी बीज बैंक बनाने का निर्णय ग्रामीण समुदाय द्वारा लिया जाता है और इसके संचालन, रख-रखाव के लिए का समूहिक निर्णय के रूप में गाँव की बहू-बेटियों को सौपा जाता है। 'तभी सन्नाटे को चीरती हुई दिनु काका की आवाज गूंजी- "मोहन ने सौ टके की बात कही है। हम गाँववाले किसी और पर निर्भर क्या हों? मेरी मानो तो बीज-बैंक समिति का गठन अभी कर दिया जाए और मुझे यह भी लगता है कि इसकी कार्यकारिणी को हमारे गाँव कि बहू-बेटियाँ हीं संभालें। मर्दों के हाथों संभालें गए काम का नतीजा हम देख ही रहे हैं'।"[19]

समाज को लोकतांत्रिक बनाने के लिए जरूरी है कि समाज में जो पिछड़ गया है उसको आगे लाया जाए। इस कोशिश के तहत ही यह संभव है कि वह आगे चलकर समाज कि जिम्मेदारियों को निभाने कि दिशा में कदम बढ़ाएगा।

हम देखते हैं कि जो समाज महिलाओं के अवसर और उसकी स्वतन्त्रता को लेकर जितना उदार होता है वह समाज अपने संतुलित विकास को लेकर आशावान भी होता है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था का आधार सर्वसम्मति को माना गया है। क्योंकि जब तक समाज के अंतिम इंसान के पास समाज की सभी सुविधाएं नहीं पहुँच जाती तब तक समाजिक व्यवस्था के क्रम में वह पिछड़ा रह जाता है। आगे चलकर उसका पिछड़ा होना और उसकी तुलना में समाज के दूसरे लोग सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक हैसियत से आगे है, तो वह इस असंतुलन के खिलाफ संघर्ष की स्थिति को पैदा करता है। इस संदर्भ में समाज वैज्ञानिक कोसर का संघर्ष-सिधान्त काफी लोकप्रिय है। कोसर ने प्रकार्यवाद एवं संघर्ष के सिद्धांत के बीच संतुलन पैदा करने की कोशिश की। 'कोसर ने खुद कहा है कि उन्होने दोनों सिद्धांतों में सुधार करने की कोशिश की है। कोसर ने अपने विचारों से मार्क्स के द्वंदात्मक संघर्ष और डारेनडॉफ के संघर्ष-सिधान्त को संतुलित किया है। वे

पहले प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री हैं, जिन्होंने यह बताने कि कोशिश की है कि संघर्ष समाज की व्यवस्था के लिए हानिकारक होते हुये भी कभी-कभी सुरक्षा कपाट का काम करता है, जिससे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में बने रहने में सुविधा होती है। उनके विचार से यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक संघर्ष के यथार्थ को झुठलाया नहीं जा सकता। परिणाम चाहे जो भी हो, संघर्ष एक विशव्यापी यथार्थ है'[20]।

संघर्षशील आमजन की कहानियां लिखने वाले कथाकार ग्रामीण जीवन को समझने और उसके सच को अपने उपन्यास और कहानियों के जरिए सामने लाने की कोशिश करते है। कहानीकार विजयकान्त की कहानी 'इंद्रजाल' 1990 के दशक में किसान आंदोलन की जो छोटी-छोटी लहरें उठ रही थी, खासकर बिहार के भोजपुर के क्षेत्र में उसको इस कहानी के जरिये उन्होंने अभिव्यक्त किया है। राजनीतिक तौर पर इन आंदोलनों को आगे बढ़ाने का कार्य वामपंथी पार्टी 'सीपीआई माले' ने किया, इस दौरान बिहार के भोजपुर से लेकर अलवर तक के इलाकों में जाति-संघर्ष भी बढ़ा। यह संघर्ष अगड़ों-पिछड़ों के बीच, भूमिहीन और भूमिपतियों के बीच तथा मजदूर और मालिकों के बीच मजदूरी को लेकर हुआ। इस तरह कि कहानियाँ, उपन्यास मूलतः किसान आंदोलन की कहानियाँ है लेकिन वह किसान के संघर्ष को बहुस्तरीय ढंग से पाठकों के समक्ष पेश करती है। इंद्रजाल कहानी एक अर्थ में किसान आंदोलन की कहानी है तो वह अपने यथार्थवादी स्वरूप में दलित-सवर्ण के संघर्ष की भी कहानी है, साथ ही यह कहानी स्त्रियों के नायकत्व की भी कहानी है। कहानी मे जब मिसिर महाराज से लड़ने के लिए 'मुसहर' स्त्रियाँ मोर्चा संभालती हैं तो जमींदार के घर से अनाज उठवा लिया जाता है और आगे के लिए उसको चेतावनी भी दे जाती है।

'आँधी बनी मुसहरिनों के पीछे समूची मुसहर-पट्टी उमड़ पड़ी, बच्चे औ पोसा कुते तक। बाग-खेत, बांध-नहर फलांगती बाहर ही बाहर आमगाछी पहुँच गई औरतें।

उठे औ समझें, उससे पहले बैठकी के चौगिर्द उमड़ आई वे। भागें, पुकारें, उससे पहले उनकी एक-एक बांह और टांग पर पच्चीसों औरतें चट्टान की तरह जाम गई। गर्दन

पर पंजे कसे रघुमाई ने ललबतिया करेज पर सवार होते मिसिर के खुले मुंह में थूकती चिंघाड़ी, “कोठी बखारी खुलवा मिसिरवा ना तो तेरे थुथना में मूत भर दूँगी”।

बार-बार खुल-बंद हो रही थी मिसिर की उबलती आंखे। कोए किनारा छोड़ रहे थे। सपना! ऐसा घिनौना सपना! ऐसी बजबाज़-छिह। लेकिन अंगों पर पड़ती मार? तो सपना नहीं है यह? ऊं, प्रेतिनें भी नहीं? मुसहरनियां ही हैं, उनके हाड़-हाड़ पर थूकती-मुटाती हुईं! हाय! विष-बारूद की बाप बुद्धि जाने कहां लुप्त हो गई। खोपड़ी का जादू खाक हो गया। पिद्दे चोर की तरह कांपते रिरिया उठे मिसिर “ले लो, सब ले लो पर देह छोड़ो! छोड़ो देह, छोड़ो”।”[21]

इस कहानी में कहानीकार ने रघुमाई के नेतृत्व में ‘मुसहरिन’ स्त्रियों की प्रतिहिंसा को बड़ी हीं विश्वसनीय ढंग से दिखाया है। प्रतिहिंसा उस वक़्त अनिवार्य हो जाती है जब हिंसा से निपटने के अन्य विकल्प भी नहीं दिखाई देते है और यह अनायास नहीं होता है है। जब मिसिर के हमले मुसहर टोले पर बढ़ रहे होते हैं तो गाँव से कोई बचाने के लिए नहीं निकलता है। पुलिस तंत्र और शासन् महकमा, मिसिर जैसे तंत्र हर गाँव की सच्चाई है। मिसिर जैसे सामंतों के खिलाफ लड़ने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता हैं। इसी संदर्भ में रघुमाई के नेतृत्वकारी चरित्र गोर्की के उपन्यास ‘मां’ की याद दिलाती है। किसान प्रश्न पर रणजीत गुहा का प्रचलित तर्क है कि ‘किसान इतिहास की विषयवस्तु नहीं, बल्कि स्वयं अपने इतिहास के कर्ता हैं।[22] रणजीत गुहा और पार्थ चटर्जी जैसे विद्वानों ने किसान के विद्रोहों को ‘विशुद्ध चेतना’ से अनुप्रमाणित माना है और इसी विशुद्ध चेतना से किसान आंदोलनों, विद्रोहों को देखने की मांग की हैं।

भारत के कृषि संघर्षो की राजनीति को सीपीआई एमएल के दस्तावेजो के द्वारा समझा जा सकता है। बिहार मे जमीन पर मालिकाना हक़ ऊंची और पिछड़ी जातियों के भूस्वामी के पास है और दलित, अतिपिछड़ी जातियाँ भूमिहीन है जो खेतिहर मजदूर के रूप मे काम काम करती है। सामंती ताकतों ने हर समय भूमिहीन किसानों के संघर्ष को हर समय तोड़ने का प्रयास किया है। "पिपरा हत्याकांड हो या अरवल जनसंहार, खून की प्यासी नवसामंतों की सेनाए हो या गोली से बात करने वाले अर्धसैनिक बल, सम्पूर्ण

क्रांति के पैरोकार हो या 'शाही शक्ति' के झंडाबरदार, कोई भी शक्ति बिहार के धधकते खेत-खलिहानों मे मरघट की शांति नहीं कायम कर पाई, और न ही कोई शक्ति इतिहास के रंगमंच से इन नवोदित अभिनेताओ को नेपथ्य मे धकेल सकेगी।"[23] सीपीआई एमएल के इस दस्तावेज़ से यह बात साफ है कि भूमिहीन किसानों के संघर्ष को कोई भी ताकत तोड़ नहीं पाई है इतिहास मे कई तरह की ताकतों ने जन्म लिया लेकिन भूमिहीन किसानों की गोलबंदी को नहीं तोड़ ओई और बिहार के भूमि संबंधो मे आज भी क्रांतिकारी परिवर्तन की मांग का झण्डा बुलंद करते है। "बिहार के किसान संघर्ष की अगली कतार मे खड़े है, विशाल बहुसंख्यक खेतिहर मजदूर, और उनके साथ गरीब व निम्न मध्यम किसान। काम से काम आंदोलन के वर्तमान दौर मे तो कुलको कि एक अच्छी-ख़ासी संख्या आक्रमण का सीधा निशाना बनकर विभाजन रेखा के उस पार खड़ी है कुछेक इलाको में तो इन कूलको में पिछड़ी जातियों के लोग भी शामिल है। लेकिन यद्यपि बिहार का किसान आंदोलन सर्वांगीण भूमिसुधार पर सबसे ज्यादा ज़ोर देता हैं; फिर भी, वह हरित क्रांति के संकट से उत्पन्न होने वाले उन मुद्दो को अपने कार्यक्रम मे जरूर स्थान देता है, जो मध्यम व उच्च मध्यम किसानों कि बहुसंख्या को प्रभावित करते है।"[24]

इस सन्दर्भ में कौस्तब बनर्जी का मत देखना भी जरुरी है जिसे उन्होंने अपने शोध में लिखा है.. पलामू का इतिहास दो तरह से आकर्षित करता है; पहला शोषक वर्ग का इतिहास और दूसरा शोषित वर्ग के प्रतिरोध का इतिहास। पहले उदाहरण के तौर पर भूमिहारों किए द्वारा सामंती और अर्धसामंतवादी तरीके से मजदूरो का दमन तथा भूमिहीन दलित जातियों (भुईया और मुसहर) के द्वारा किया गया संघर्ष जो अलग अलग वामपंथी पार्टियों के द्वारा संगठित किए गये थे जो इस शोषणकारी व्यवस्था को चुनौती दे रहे थे। मनातू के जमींदार के बारे मे एक बात कही जाती थी कि राय साहब एक किला मे रहते है और वंहा पर इन्सानो को खाने वाला बाघ रहता है। जो कोई भी जमींदार से अधिक मजदूरी, ज्यादा अनाज या उधार के बारे मे पूछने का साहस करता है उसको बाघ के सामने फेंक दिया जाता है तथा जिस क्षेत्र के वो मालिक थे वंहा पर किसी भी महिला के साथ पहली रात सोने का अधिकार रखते थे। इस दमनकारी सामंती नीति के खिलाफ उस क्षेत्र में काम करने वाली सभी वामपंथी पार्टियों के द्वारा चुनौती दिया

गया और इस दमनकारी नीति को खत्म किया गया। जमींदार-साहूकार-सरकार की तिकड़ी मिलकर इस दमनकारी व्यवस्था की सुरक्षा करती थी क्योंकि जो एक मात्र पुलिस स्टेशन भी था वो मनातू के जमींदार के घर के सामने ही बना हुआ था। कृषि क्षेत्र मे अलग-अलग सामाजिक समूहों के अंतर्विरोधों का इतिहास रहा है। ऊंची जातियों का पिछड़ी जातियों से टकराव तथा दलितो जातियों का गैर दलित जातियों के साथ संघर्ष वह कि संरचना मे है, क्योंकि उनके वर्गीय हित अलग अलग है।

समाज के अन्य सामाजिक समूह की जो कहानियाँ हैं वह संख्या में अपेक्षाकृत कम हैं लेकिन अपने विषय चयन और सामाजिक सच की अभिव्यक्ति के संदर्भ में ये कहानियाँ समाज के बड़े हिस्से पर रौशनी डालने का काम करती है। आज 'संघर्ष' और 'यथार्थ' के मायने बदल रहे हैं, 'सक्सेस स्टोरी' के नाम पर बहुत कुछ बड़ा और भ्रमित करने वाला दिखाया, बेचा जा रहा है। बाज़ार और मीडिया के प्रचारतंत्र ने मिलकर एक मायाजाल रचा है जिसमें शब्दों के अर्थ में जो जमीनी अंश छुपे रहते थे उनको गायब कर सब कुछ आसमानी दिखाया जा रहा है। 'एक विराट छद्म ने हमरे समूहिक चेतना चित्त पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया है। बाज़ार में उपलब्ध बेशकीमती वस्तुओं से अपना घर पाटनेवाला, पाटने के लिए लालायित वर्ग को आमजन बताया जा रहा है और वस्तु संग्रह की कोशिश को उसका संघर्ष। समकालीन कथा-विमर्श में इस 'आमजन' और उसके संघर्ष को जगह मिलनी शुरू हो गई है। इस शुरुवात को समय रहते प्रश्नांकित करना जरूरी है अन्यथा वास्तविक आमजन और उनका संघर्ष समूचे कथा परिदृश्य से गायब होते जाएंगे और उनकी जगह उनका उलट स्थापित हो जाएगा'।[25]

संघर्षशील समूह की कहानियां समाज के बने-बनायें साँचे को तोड़ने का काम करती है। अपने कथ्य के स्तर पर ये कहानियाँ या उपन्यास जिस सच को सामने लाती है उसको केवल प्रतीक और सांकेतिक भाषा में नहीं कहा जा सकता। अनगढ़ भाषा अपरिष्कृत वाक्य-संरचना के जरिये संघर्ष के यथार्थ को कथानक में उतार कथाकार समाज से खुद का जुड़ाव महसूस करता है और यही कारण हैं कि ऐसे कथाकार अपनी रचनाओं की सामाजिक-आर्थिक दृष्टि को ज्यादा महत्व देते हैं और इसके लिए कथा कहने का प्रचलित शास्त्र उनके लिए नाकाफी लागने लगता हैं।

ग्रामीण कथ्य को आधार बनाकर रचना करने में यथार्थ की मौजूदगी देखी जाती रही हैं। यह यथार्थ रचना में नए आस्वाद से पाठकों को परिचित करता है, रेणु का 'मैला आँचल' हिन्दी कथा साहित्य की चली आ रही परिपाटी में एक नए यथार्थ को सामने रखने का काम किया था। 1990 के बाद के कथा साहित्य भी अपने कथ्य की दृष्टि से इस कार्य को कर रहें है। विगत दो दशकों से इस स्थिति में परिवर्तन आया है। अब खेतिहर समाज, जिनमे अधिकतर दलित वर्ग आता हैं, दलित उत्पादक वर्ग में 'अस्मिता बोध' का प्रस्फुटन हुआ है और यह वर्ग 'माई बाप या दयाभाव के सिंड्रोम से बाहर आ रहा है और इस वर्ग को जजमानी व्यवस्था मंजूर नहीं हैं। उत्तर भारत के खेतिहर समाज में जो हिंसक प्रतिरोध की घटनाएँ घट रही हैं वह उनके 'गरिमापूर्ण काम और सम्मानजनक मजदूरी' के संदर्भ में हो रही हैं..... 'हम अनाज मांग रहें हैं अपना अनाज" किटकिटाते गरज उठा रघु "अपनी भूईं का। आपके पास जमा अनाज वापस मांग रहे हैं" अचरज और क्रोध से नसें झनझना उठी मिसिर की! उनका स्वांग नाकाम हो जाए, सह नहीं पा रहे थे वे इस अजूबे को। खोल तड़क रहा था, लेकिन अकेले अवश थे। एक इंच पीछे नहीं हट रहे थे तीनों'।[26]

'गरिमापूर्ण काम और सम्मानजनक मजदूरी' एक ऐसी मांग हैं जिसे बड़े कुलक और जमींदार पूरा नहीं करना चाहते थे। खेतिहर समाज के उत्पादक वर्ग मूलतः गैर-सवर्ण होते हैं, इंद्रजाल कहानी में भी 'मुसहर' समुदाय हैं, जबकि उत्पादन का स्वामी-वर्ग सवर्ण है। 'अतः बतौर संघर्ष यह कहा जा सकता है कि खेतिहर समाजों में उत्पादक वर्ग और उत्पादन स्वामी वर्ग के जातिगत चरित्र की निरंतरता निर्णायक रूप से भंग या विलुप्त नहीं हुई है। जाहिर है कि यह निरंतरता 'टकरावों' को जन्म देगी ही, जहां उत्पादक वर्ग इस निरंतरता को निर्णायक रूप से तोड़ने के लिए संघर्षरत हैं, वहीं उत्पादन स्वामी वर्ग भी इसकी हिफाजत के लिए मैदान में डटा हुआ है। बिहार में सक्रिय 'रणवीर सेना' जैसी ऊंची जातियों की निजी सेनाएँ इस परिघटना की प्रतीक हैं'।[27] हम देखते हैं कि खेतों में जो मेहनतकश हैं वह खेतिहर मजदूर हैं लेकिन मुनाफा, पूंजी का

संचय जिसकी जमीन है उसकी हो जा रही है अर्थात मेहनत किसी और का और लाभ किसी और को। भारतीय समाज में खेतिहर समुदाय को लेकर कई तरह की धारणाएं हैं। खेतिहर समाज के आंतरिक संघर्ष और उसके द्वंदों को सामने नहीं आने दिया जाता है और उन्हें 'संरक्षण, शोषण तथा दुलार और उत्पीड़न की संस्कृति के जरिये शोषक वर्ग द्वारा काम में लाया जाता है। जब तक सवर्णवादी दृष्टि से खेतिहर समुदाय को देखा जाता है तो सब कुछ 'शांत और सुकुमार' मालूम पड़ता है लेकिन जब खेतिहर समूह द्वारा देखा जाता हैं तो उनकी बदहाली और शोषण की स्थिति भयावह मालूम पड़ती है.... 'मजूरी मिली तो अन्न सिंझता वरना मोठा, मूस, चिचहर। लेकिन कुछ सिंझता जरूर। लकड़ी न सही, घास-फूस या सूखे केले पत्तों की ही सही, आग लहकती जरूर'[28]

आग का लहकना सब कुछ धनी किसानों के दया-सत्कार पर टिका हुआ है। इस संदर्भ में रामशरण जोशी कुछ सवालों को उठाते हैं....'धनी कृषक वर्ग के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक वर्चस्व को अक्षुण्ण रखने के लिए छोटे, सीमांत व निम्न खेतिहर, भूमिहीन और विशुद्ध खेतिहर श्रमिकों को इस समाज की आधार शक्ति के रूप में नहीं देखा गया। परंपरागत वर्णवादी संरचना की दृष्टि से खेतिहर समाज का मूल्यांकन किया गया। क्या कभी इस पर विचार किया गया कि इस समाज की उत्पादक शक्ति में सवर्ण वर्ग की कितनी हिस्सेदारी हैं? उसके परिवार में बंधक श्रमिक, बेगार आदि क्यों नहीं होते हैं? क्यों भूमिहीन सवर्ण मुख्यधारा से जुड़ा रहता है, जबकि भूधारी दलित इससे कटा हुआ हाशिये पर रहता हैं? क्या खेतिहर समाज के ये सवाल बेचैन करने वाले नहीं हैं?'[29]

यह भारत के सबसे गरीब समुदायों में से एक है जो आजादी के 70 साल बाद भी हाशिये पर है। यहां तक कि दलित समुदाय के लोग भी इन्हें अपने से नीचे मानते हैं। बिहार में मुसहरों की एक बड़ी आबादी रहती है और इनमें से ज्यादातर दिन में 70 रुपये से भी कम की आमदनी पर जिंदा हैं। तीन दशकों से मुसहर लोगों के बीच काम कर

रही सामाजिक कार्यकर्ता सुधा वर्गीज कहती हैं, "ये गरीबों में भी सबसे ज्यादा गरीब लोग हैं और किसी सरकारी योजना के इन तक पहुंचने की कहानी दुर्लभ है।"[30]

भारतीय किसानों में अधिकतर संख्या छोटे और सीमांत किसानों की है। जिनके पास जोतने के लिए जो जमीन उपलब्ध होती है, वह एक हेक्टेयर से अधिकतम दो हेक्टेयर तक की होती है। इतनी ही कृषि जोत पर उनको अपना पसीना बहाना होता है। भारत के ग्रामीण परिवारों में से 57.8 प्रतिशत ग्रामीण परिवार कृषि पर आश्रित हैं। इनमे से 69 प्रतिशत से भी अधिक परिवारों के पास या तो मामूली कृषि जोत है, वहीं केवल 17.1 प्रतिशत परिवारों के पास छोटी कृषि जोत पर निर्भर है और ये किसान दूसरों के बड़े भू-स्वामियों के खेतों में खेतिहर मजदूर के बतौर कार्य भी करते है। वर्ष 2011 के जनगणना के अनुसार यह निष्कर्ष सामने आया है कि भारत में ग्रामीण आबादी का 72.3 प्रतिशत जनसंख्या कृषि क्षेत्र में या तो किसान या कृषि मजदूरी के रूप में काम करता है। जबकि कृषि क्षेत्र में मूल किसानों का काम करने का अनुपात वर्ष 1951 के 71.9 प्रतिशत से घटकर 45.1 प्रतिशत पर आ गया है। कृषि क्षेत्र में समुचित विकास के अभाव में ग्रामीण आबादी की अधिकतर संख्या रोजगार प्राप्ति के लिए गैर-कृषि क्षेत्र की ओर अग्रसर है, जिसके परिणामस्वरूप वर्ष 1999-2000 और वर्ष 2011-1012 के बीच गैर कृषि ग्रामीण रोजगार लगभग 12 प्रतिशत बढ़ गया है।[31]

पिछले एक दशक से भारत का खेतिहर समाज आंदोलनरत है। यह आंदोलन आर्थिक तो है ही लेकिन उसके साथ ही यह सामाजिक और राजनीतिक भी हैं। 1990 में मंडल आंदोलन इसका एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। 1990 के बाद खेतिहर समाज के अंदर बड़े बदलाव देखने को मिला है। एक 'दोस्तना अंतर्विरोध' कुछेक स्तरों पर अब भी कायम है लेकिन उसने बदलाव की आहट को ग्रामीण भारत तक पहुँचाने का कार्य भी किया है। महेश कटारे की कहानी 'कूकाल में हंटर' में जब गंगादस तिवारी के घर 'हंट' का अर्थ मालूम करने जाता है तो वहाँ तिवारी कहते हैं... 'सोश्ल जस्टिस.... सामाजिक न्याय.... अब इसका मतलब किसी के लिए अवसर पाना है, जैसे तू। यादव के लिए इसका अर्थ कुर्सी पाना है और मुझे लगता है, जैसे यह बेघर करने का षड्यंत्र हो'।[32]

खेतिहर समूह के संघर्षों को उत्तर औपनिवेशिक विकास के परिप्रेक्ष्य में भी देखना चाहिए, क्योंकि इसका अपना विकास का अजेंडा है। इस विकास में अधिक से अधिक विस्थापन हुआ है। विस्थापन की वजह से ग्रामीण भारत में बड़े पैमाने पर पलायन हुआ। इस पलायन की वजह से ग्रामीण भारत में भूमिहीनता बढ़ी और सीमांत खेतिहर कालांतर में शहरी सर्वहारा में तब्दील होते गए....'कुछ परिवार घरों में दिवाली के दिये जलाकर दिल्ली, हरियाणा, पंजाब की ओर काम की खोज में निकाल गए कुछ अपनी साइकिलों से सुबह-सुबह कस्बे की ओर रुख कर लेते'[33], असंगठित श्रम के रुपे में गाँव का खेतिहर समाज आज की तारीख में काम की तलाश में मारा फिर रहा हैं। जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान' इस समस्या को सटीक ढंग से रेखांकित करती है... 'अब खेती-बाड़ी में हम छोटे किसानों के लिए कुछ नहीं रखा है बाउ.....घर-खेत बेचकर हमें शहर जाना ही होगा। सोचने-विचारणे में हमने बहुत टैम बर्बाद कर लिया। उनकी घरवाली भी समर्थन कर रही बेटों का "हां जी, भले कहते हैं ये लोग। अपने मँझले के बेटों से तो सबक लीजिये। "हद हो गई.... सबक लें हम उनसे? इस्क्रीम ही तो बेचते हैं तीनों भाई....कोई बहुत बड़ी साहूकारी तो नहीं करते"।[34]

उपरोक्त कथन वर्तमान समय की हकीकत है। इसमे कोई हैरत नहीं होनी चाहिए की भारतीय समाज का ग्रामीण संकट आज बेहद गहरा रूप धारण कर चुका है। वैसे इस बात को सबसे अधिक बार लिखा गया है और वह किसान के वास्तविक जीवन की तरह घिस चुका है। लेकिन मौजूदा समय का किसान-संकट, इस पर फिर से रौशनी डालने का कार्य करता है कि ग्रामीण भारत के साथ जो हो रहा है वह केवल संयोग या हादसा नहीं है, बल्कि पिछले 20 सालों से अधिक के सरकार दारा जो फैसले लिए गए हैं उन नीतियों का परिणाम है। हम देखते हैं कि पूंजीवादी विकास में रेटिंग का खेल खेला जाता है, जो आमतौर पर कॉर्पोरेट, बैंकिंग और वित्तीय सेक्टर को उनके काम काज के अनुसार रेटिंग प्रदान करते हैं। वे कृषि और ग्रामीण क्षेत्रों को छोड़ देते थे लेकिन जब ग्रामीण समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया तब सरकार और रेटिंग देनेवली एजेंसियों का ध्यान ग्रामीण क्षेत्रों की तरफ भी हुआ। 'क्राइसिल' एजेंसी ने भारत कि मौजूदा हालत को लेकर एक रिपोर्ट जारी कि है और उस रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र की हालत को बदतर

बताया गया है।[35] यह हालत कृषि विकास की धीमी दर, कृषि उपज को वाजिब दाम ना मिलने, कन्स्ट्रक्शन क्षेत्र में मंडी और ग्रामीण मजदूरी दर में सुस्ती के कारण पैदा हुई है। इस संदर्भ में 'क्राइसिल' ने पिछले कुछ वर्षों के आंकड़ें जारी किए। 'मुद्रास्फीति को ध्यान में रखते हुये गौर करें तो 2014-15 से मार्च 2018 तक खेतिहर मजदूरी में वृद्धि दर महज 4.8 प्रतिशत रही, जबकि 2009-10 से 2013-14 तक कृषि मजदूरी सालाना औसतन 9.5 प्रतिशत की दर से बढ़ी थी। गैर कृषि मजदूरी का हाल तो इससे भी बुरा नजर आता है 2009-10 से 2013-14 तक इसमें सलना औसतन बढ़ोतरी 4.8 प्रतिशत हुई थी, जबकि 2014-15 से ये दर औसतन महज 0.2 प्रतिशत रही है'।[36]

इन आंकड़ों के आधार पर देखें तो ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाला श्रम-संसाधन बुरी तरह पिछड़ गया है। इन स्थितियों से निजात पाने के लिए समय-समय पर सरकार ने ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार गारंटी योजना लेकर आती है लेकिन ज़मीन पर उसकी स्थिति भी कुछ ऐसी हीं हैं.... 'रोजगार गारंटी योजना के सरकारी प्रचार-प्रसार को देखकर युनुस को फिर से एक बार कुछ कमा लेने की उम्मीद जागी। उसे लगा कि गाय का घाटा मजूरी से पूरा हो जाएगा। मजदूरों के साथ उसने भी जॉब कार्ड बनवाया लेकिन पंचायत सचिव ने यह कहते हुये सबके जाब कार्ड अपने पास रख लिए कि खुलेगा तब दे देंगे। युनुस और दूसरे मजदूर हर चार-छह दिन में काम का पुछने पंचायत जाते। हर बार एक ही जवाब मिलता बस आठ-पंद्रह दिन में सड़क का काम खुलने वाला है'।

छह महीने बीत जाने के बाद भी जब पंचायत में कोई काम शुरू नहीं हुआ तो एक दिन युनुस गाँव के कुछ मजदूरों को साथ लेकर जनपद गया...बाबू ने जब फ़ाइल में देखकर बताया कि गाँव के मजदूरों के जाब कार्ड में तो पूरे सौ दिन की हाजरी भारी हुई है और सबक़ों सात-सात हज़ार रुपए भी मिले हुये हैं'।[37]

पिछड़ी कृषि वयवस्था, आर्थिक उदारीकरण और कृषि विरोधी नीतियों की वजह से ग्रामीण जीवन में आर्थिक तंगी और बेरोजगारी बेतहाशा बढ़ी है। इसके लिए लोकतान्त्रिक प्रक्रिया से चुन कर आई हुई सरकारों ने 'मनरेगा' जैसी रोजगार गारंटी योजनाएँ लेकर आती हैं लेकिन वास्तविकता में दिखलाई पड़ता है कि इस तरह की

योजनाएँ ग्रामीण खेतिहर, कृषि मजदूरों के पेट भरने के बजाए पंचायत से लेकर प्रशासन् में बैठे ऊपरी महकमे तक के पेट भरने का माध्यम हो जाता है। किसान –मजदूर का पैसा उनके तक नहीं पहुँच पाता हैं इसको लेकर पी. साईनाथ एक किताब लिखते हैं 'Everybody Loves A Good Draught' जिसका अनुवाद हिन्दी में 'तीसरी फसल' के नाम से हुआ है। इस किताब में यह ब्यौरेवार ढंग से बताया गया है कि ग्रामीण भारत में अकाल जैसी विपदा पंचायत से लेकर राज्य के सरकारी कर्मचारियों के लिए है, जिनका खेती-किसानी और किसान से कोई लेना-देना नहीं है। उनकी फितरत में यही है कि कैसे भी किसान के लिए कोई योजना बने और उनकी जेबें गर्म हों। शासन् का पूरा तंत्र व्यापार की वैश्विकता में लगा पड़ा है और नीतियाँ बनाने वालों को या तो जमीनी समझ नहीं है या फिर है तो वे जान-बूझकर अनजान बने रहने का ढोंग रचते हैं।

नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में 2014 में आई मौजूदा सरकार की महत्वपूर्ण इकाई 'नीति आयोग' ने हाल की अपनी रिपोर्ट में कहा कि देश में 53 प्रतिशत किसान हैं। तीस साल से पत्रकार के रूप में खेती-किसानी को देखने-समझने-लिखने वाले पी. साईनाथ कहते हैं कि नीति आयोग को यह नहीं मालूम कि किसान कौन है? साईनाथ के मुताबिक, बेशक देश की 53 प्रतिशत आबादी खेती-किसानी पर निर्भर है, लेकिन असलियत में मूल किसान देश में आठ प्रतिशत से भी कम हैं। अगर खेत मजदूर, मानसूनी किसान और खेतों पर काम करने वाली महिलाओं को जोड़ दें, तब भी देश में 24 प्रतिशत से अधिक किसान नहीं हैं। कड़वी हकीकत यह है कि किसानों की बढ़ती आत्महत्याओं को कम करके दिखाने के लिए आंकड़ों से खेला गया। जब आत्महत्याओं की खबरें रोज़ अखबारों की सुर्खियां बनी, तब नीति-निर्धारकों ने उसको कम दिखने के लिए आंकड़ों से खेलने का आसान रास्ता चुना'।[38]

एकबारगी नीति आयोग के आंकड़ों को ही सच माना जाए तो 53 प्रतिशत की आबादी देश में सबसे अधिक आत्महत्या की ओर प्रवृत हो रही है तो इसकी जवाबदेही बतौर सरकारी संस्था होने के नाते उनकी क्या भूमिका है, तो इसको लेकर नीति आयोग चुप है। कारण है कि नीति आयोग जैसी नीति निर्माता सरकारी संस्थाएं भी किसान-

मजदूर के पक्ष में ईमानदारी नहीं दिखती है। इसलिए यह स्वीकार करना गलत नहीं होगा कि भारतीय राजनीति की मुख्यधारा की नीतियाँ ही किसान-मजदूर विरोधी हैं।

खेतिहर मजदूर और खेती-किसानी से जुड़े दूसरे संघर्षशील समूह के सामने जो बदहाली की स्थिति पैदा हुई है वह सब व्यवस्था की पैदाइश है। विकास का पूंजीवादी तरीका संघर्षशील समूह को विकास में बाधक के बतौर देखता है, लेकिन उसके मुनाफे को संघर्षशील समूह के श्रम के जरिये निर्मित किया जाता है। उदारीकरण के बाद के इस 'वैश्विक' समय ने सबसे अधिक ग्रामीण अवधारणा को नष्ट और भ्रष्ट किया। आज गाँव में न उसकी स्वायत्ता बची है न ही वहाँ स्वतंत्र रूप से छोटे, मझौले और सीमांत किसान बचे है। इन सबके साथ गाँव की सामूहिकता भी खत्म हुई है। सामूहिकता पूंजीवाद के लिए परेशानी का सबब है इसलिए 1990 के बाद पूंजीवाद अपने फैलाव के साथ ग्रामीण समाज के साथ पारिवारिक सामूहिकता को भी खत्म कर दिया है। यह ऐसा समय है जब मेहनतकश इंसान के ऊपर सबसे अधिक हमले है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन के साथ कृषक जन को मजदूर में बदल दिया गया है और हमारी सरकार की सदिच्छा भी यही है कि मुनाफे के गणित में किसान मजदूर बनकर रह जाए।

कृषि पर आधारित उद्योगों, तबकों का जीवन दूभर हो गया है। सुभाषचंद्र कुशवाहा की कहानी 'तिलेसरी' एक ऐसी कहानी है जो कृषि-अर्थव्यवस्था पर टिकी हुई ग्रामीण-सामाजिक उत्पादक वर्ग की स्थिति को सामने लेकर आती है। इस कहानी में स्त्री जीवन की पराधीनता के यथार्थ और स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति हुई है। ग्रामीण स्त्रियाँ शहरी मध्यवर्ग की स्त्रियों की भांति समस्या के सन्दर्भ में विमर्श के बजाए संघर्ष करती है। यहाँ 'इंद्रजाल' हो 'तिलेसरी' 'बीज बैंक' या 'बीज भोजी' इन कहानियों में गाँव की स्त्रियाँ अब सजग और सचेत हो रही है। स्त्री के संघर्ष के संदर्भ में स्त्री को समाज के द्वारा उसकी हदों को बार-बार याद दिलाया जाता है, लेकिन तिलेसरी या इंद्रजाल जैसी कहानियाँ इस धारणा को बदल रही है और इसके साथ-साथ भारतीय ग्रामीण स्त्री भी बदल रही है।

कृषि पत्रकारिता के विशेषज्ञ पी. साईनाथ किसानी में महिलाओं की स्थिति को रेखांकित करते हुये लिखते हैं कि 'किसानों की मुश्किलें समझने के लिए आंदोलनों की

जगह किसानों और खेत-मजदूरों की जिंदगी की स्टडी होनी चाहिए। हर बार किसानों की समस्या आंकड़ों में गुम कर दी जाती है। खेती से जुड़ी परेशानियों के चलते बहुत बड़ी संख्या में औरतें आत्महत्या कर रही हैं। लेकिन औरतों के नाम पर पट्टे नहीं होते तो उसकी मौत को किसान आत्महत्या नहीं माना जाता। देश में खेती से जुड़ा 60 फीसदी काम औरतें करती हैं लेकिन समाज उनका नाम जमीन के पट्टे पर लिखवाना नहीं चाहता। इससे 60 फीसदी किसानों के मुद्दे अपने-आप छु-मंतर हो जाते है। औरतें किसान नहीं मानी जातीं तो किसानों को को फाइदा पहुँचने वाली किसी भी पहल से वो बाहर होती हैं'[39]।

आकड़ें गवाह हैं कि भारत में कृषक समाज का संकट गहराता जा रहा है। संकट से निकलने के लिए केवल तात्कालिक समाधान ही तलाशे जा रहे है और उन्हें सरकारी नीति के नाम पर लागू किया जा रहा है। कृषक समाज और उसके संकट पर विचार करते हुये सामाजिक कार्यकर्ता अरुंधति राय ने अपने एक साक्षात्कार में कहा...'जब सरकार अमीरों से लेती है तो उसे छीनना कहा जाता है और गरीबों से लेती (भूमि, वन, जल आदि) है तो उसे विकास कहा जाता है। ऐसा क्यों कहा जाना चाहिए?'[40]

'फाँस' उपन्यास में केवल स्त्री, दलित विमर्श या धर्म-मीडिया संबंधी कृषि विमर्श ही नहीं है, बल्कि उपन्यास में आदिवासी विमर्श भी है। देश के अंदर आदिवासी विद्रोह उनकी ज़मीनों के हड़पने के खिलाफ अनेक जगहों पर चल रहे हैं। बनगांव के गैर-आदिवासियों की तरह वहाँ के आदिवासी समाज को भी अपने जीवन-यापन के लिए जंगल पर परंपरागत अधिकार चाहिए। 'उपन्यास पढ़ते हुये यह प्रश्न उठता है कि गैर-आदिवासी गैर-सवर्ण छोटे किसानों के जीवन-प्रश्नों के साथ आदिवासियों की जीवन प्रश्नों का जुड़ाव क्यों नहीं है? बेशक मेंडालेखा में स्व-शासन् का जो मॉडल है, 'मंथन' में जुटे लोगों का उसे उम्मीद से देखना और उससे प्रेरणा, एकता की एक संभावना की ओर संकेत जरूर करता है'[41]। लेकिन आदिवासी और गैर-आदिवासी के बीच एकता का मजबूत आग्रह इस उपन्यास में नहीं है। उपन्यास में संभावना थी कि कलावती और अशोक के सम्बन्धों के जरिये कृषक समाज के भीतर मौजूद जातिवादी अंतर्विरोधों को पार करते हुये एक नए रिवाज कि शुरुवात की जाए परंतु वहाँ भी ऐसा नहीं हो पाया।

इस संबंध में राकेश बिहारी 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित अपनी समीक्षा में लिखते हैं कि 'उपन्यास के लगभग अंत में अशोक को एक खांचे का महान प्रेमी बना कर पेश करने कि परिघटना आधुनिकता और अदर्शबोध के द्वंद के बीच एक ऐसी नियति को रेखांकित करती है, जो हमेशा से एक खास तरह के फार्मूले कि शरण में जाकर ही तुष्ट होता है'।[42]

किसानों और उससे जुड़े समूहों की मुक्ति के लिए एक ईमानदार कृषि नीति की जरूरत है जिसको निर्मित करते वक़्त नीति-निर्माताओं को कृषि और उद्योग दोनों में संतुलन रखते हुये विकास की रूपरेखा को तैयार करना चाहिए। 'भारत का गहराता कृषि संकट और किसानों की आत्महत्याएँ में सियारम शर्मा लिखते हैं ... 'देहाती इलाकों में जोतदारों एवं कूलकों के सामंती प्रभुत्व को समाप्त करने तथा कृषि पर हो रहे बड़ी पूंजी और साम्राज्यवाद के हमलों से रक्षा के लिए 'ग्रामीण सर्वहारा और किसानों की एकता जरूरी है। इन दोनों का साझा संघर्ष ही कृषि क्षेत्र से सामंती संबंधों और संस्थाओं के साथ-साथ उत्पीड़नकारी नव-औपनिवेशिक साम्रज्यवादी लूट से भारतीय कृषि को मुक्ति दिला सकती है'।[43]

संदर्भ-

1. INC Election Manifesto, 2014
2. Business standard January 10, 2018
3. http://cpim।org/elections-2014/manifesto
4. http://www।communistparty।in/2014/03/election-manifesto-of-communist-party.html
5. प्रभात पटनायक, 2018
6. http://im।rediff।com/news/2009/mar/24Manifesto_Loksabha_2009_INC.pdf
7. Tom Miles, the Wire 10 May 2018
8. Chandrashekhar and Ghosh, 2017

9. Kabir Agrawal, the Wire, 13 May 2018
10. वहीं
11. The Wire, 6 June 2018
12. The Hindu, 26 Apr 2018
13. Hindustan Times, 1June 2018
14. Hindustan Times, 31 May 2018
15. The Hindu, 1 June 2018
16. फाँस, संजीव, पृ. 217
17. वहीं, पृ. 217
18. कथा पत्रिका, अंक 21, नवम्बर 201, पृ. 12
19. बीज बैंक, अनीता भारती, पृ. 495
20. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, डॉ. जे.पी. सिंह, पृ-59
21. इंद्रजाल, पृ. 54
22. Elementary aspect of peasant insurgency in colonial india, Ranjit guha. Oxford Uuniversity Press, 1983, page no.13
23. विनोद मिश्रा, मध्य bihar का किसान संघर्ष, पृष्ट 163-164
24. वहीँ
25. हंस, संघर्षशील आमजन की कहानियाँ
26. इंद्रजाल, पृ. 53
27. हंस, पृ. 16
28. इंद्रजाल, पृ. 52
29. अभिनव कदम, रामशरण जोशी
30. www.dw.com, नक्सलबाड़ी और चारू मजुमदार
31. हिन्द किसान, ऐसे गहराया ग्रामीण संकट
32. कूकाल में हंटर, पृ-473
33. वहीं
34. छोटा किसान, पृ. 74

35. हिन्द किसान, ऐसे गहराया ग्रामीण संकट
36. हिन्द किसान, वहीँ
37. कालीचाट-124
38. www.sampadkiya.com, पी.साईनाथ, किसानी का संकट और मीडिया
39. वहीँ
40. अभिनव कदम, पृ-259
41. कथा,सुधीर सुमन, पृ-20
42. वहीं, पृ- 20
43. भारत का गहराता कृषि संकट और किसानों की आत्महत्याएं, सियाराम शर्मा, पृ-90

पांचवा अध्याय

समावेशी विकास की राजनीति, कथा संरचना और भाषा का राजनीतिक संदर्भ

5.1 कथा साहित्य के संरचना में किसान

5.2 भाषा का राजनीतिक संदर्भ

समावेशी विकास की राजनीति, कथा संरचना और भाषा का राजनीतिक संदर्भ

कथा साहित्य में रूप और वस्तु के द्वन्द्वात्मक संबंध के जरिये ही उसकी सरंचना का मूल्यांकन किया जा सकता है। रूप को निर्धारित करने के लिए अंतर्वस्तु पर प्रमुखता से बल दिया जाता है। इस संदर्भ में राल्फ फॉक्स ने अपनी रचना 'द नॉवेल एण्ड द पीपुल' में लिखा है 'रूप की उपज अंतर्वस्तु से होती है, वह इससे जुड़ा भी होता है। हालांकि प्रमुखता अंतर्वस्तु की ही होती है, लेकिन रूप का अंतर्वस्तु पर गहरा प्रभाव पड़ता है और वह निष्क्रिय नहीं रहता।'[1]

रूप और अंतर्वस्तु के आधार पर कथा साहित्य का अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि 1990 के बाद का साहित्य एक विशेष पड़ाव का साहित्य है और अपने विषय के रूप में कथा-चुनाव की वजह से वह कई मायनों में विशिष्ट नजर आता हैं। वहीं वह कई तरह के प्रश्नों को भी सामने लाता है। इस दौर के साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है कि वह केवल विषयवस्तु के स्तर पर ही संजीदा नहीं हैं बल्कि वह यथार्थ के अंकन के लिए भाषाई निहितार्थ को भी समझता है और उसको अपनी रचना के माध्यम से सामने लाने की कोशिश करता है। राजू शर्मा का उपन्यास 'हलफनामे' और सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'कालीचाट' इसी तरह के उपन्यास है। रूप और अंतर्वस्तु के द्वंदात्मक सम्बन्धों पर राजू शर्मा का 'यह उपन्यास अपने समकालीन यथार्थ के कथावस्तु के रूप में विषय चयन के चलते कई मायनों में विशिष्ट हो जाता है क्योंकि विषयवस्तु के लिहाज से इस उपन्यास की भाषा वैसी ही संजीदा और चिंताग्रस्त है जैसा कि स्वयं यह विषय। उपन्यास को पढ़ते हुये मेरे मन में वैसा ही भय उत्पन्न होता है जैसा कि हलफनामे दाखिल करने और बाद की पूरी प्रक्रिया में मकई या कि अन्य स्तरों पर उसकी पत्नी, माँ व बच्चों के भीतर उत्पन्न होता है। यह भय कोई बाहरी भय नहीं है बल्कि हमारी आंतरिक चिंता का रूप है'।[2]

यह अतिरंजना नहीं है कि किसान पृष्ठभूमि और उसके यथार्थ को ध्यान में रखकर लिखे गए कथा साहित्य में हमें एक नई चिंतन परंपरा सामने खुलती हुई दिखलाई पड़ती है। क्योंकि किसान और उसकी समस्या को केंद्रीय आधार बनाकर लिखे गए कथा साहित्य में किसान के यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक विडम्बना, समाज में मौजूद विषमता, सरकार और राजनीतिक नेताओं की अदूरदर्शिता, अवसरवादिता तथा ग्राम पंचायत से लेकर सरकारी नौकरशाही तक के रूखे व्यवहार के साथ किसान के आत्महंता हो जाने तक का संकट है। उसकी अभिव्यक्ति का अंकन है। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि 1990 के बाद के किसान आधारित उपन्यास, कहानी (जिनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है) में सबसे बड़ा सवाल होता है किसान के आत्महत्या का अंकन। वर्तमान दौर में किसान-आत्महत्या एक केंद्रीय प्रश्न है समाज के लिए भी और साहित्य के लिए भी। किसान आत्महत्या के सरकारी दस्तावेजों के अनुसार अनेक कारण हो सकते है, लेकिन अंततः जब एक किसान आत्महत्या करता है तो उसके साथ श्रम और सृजन की संस्कृति समझ भी आत्महत्या कर रही होती है। किसान का जीवन कठिन संघर्षों के बावजूद उम्मीद और सृजन का जीवन है। परंतु आज पूंजीवाद के प्रभाव में पूरी दुनिया में विकास प्राप्ति को लेकर अघोषित जंग छिड़ी हुई है। इस जंग में तीसरी दुनिया के देश, विकासशील देश विश्व के विकसित देशों की नकल पर विकास यात्रा करने की होड़ में लगे हुये है। इस विकास यात्रा में उद्योग धंधों के असंतुलित विकास से विश्व भर में कृषि और ग्रामीण सभ्यता की घोर उपेक्षा हुई है और अब भी हो रही हैं। जिसकी वजह से किसान और किसानी दोनों संकट में है। बदली हुई परिस्थितियों में सामाजिक ताने-बाने को बाज़ार ने अपने गिरफ्त में ले लिया है और भारत भी इससे अछूता नहीं है। बाजारवाद और विश्व व्यापार संगठन की नीतियों के कारण विश्वभर में विकसित देशों और कॉर्पोरेट पूँजीपतियों द्वारा नए उद्योगों को स्थापित किए जाने से छोटी पूंजी वाले व्यापारी बर्बादी के कगार पर आ गए है और यह प्रक्रिया निरंतर जारी है। भारत के किसान की हालत किसी से छुपी हुई नहीं है। कृषि व्यवस्था की बदहाली को देखकर विकास की सच्चाई सामने आ जाती है। सरकार एक तरफ आम जनता के सामने विकास को खूब बढ़ा-चढ़ा कर बताती है लेकिन वहीं दूसरी ओर उसी विकास के नाम पर किसान का शोषण भी कर रही होती है। किसान की जो समस्याएँ है उसको सरकार जानती है लेकिन हास्यास्पद यह है कि वह सब कुछ जानने के बावजूद अंजान बने रहने की ही कोशिश कर रही होती है।

'हलफनामे' उपन्यास में मुख्यमंत्री की चिंता में 'किसान आत्महत्या योजना' का विचार दूसरे राज्यों में हो रहे किसान आत्महत्या से आता है। मुख्यमंत्री आने वाले चुनाव को देखकर इस चिंता में डूब जाता है कि चुनाव की नैया पार लगाने के लिए एक नया मुद्दा चाहिए और इसकी एवज में एक मुद्दा निर्मित किया जाता है 'किसान आत्महत्या योजना' का (मूल नाम-किसान विपदा निवारण योजना)। यद्यपि उस मुख्यमंत्री के राज्य में किसान आत्महत्या की कोई घटना योजना घोषित होने से पहले नहीं घटी थी। लेकिन अवसरवादी राजनीति के लिए किसी की आत्महत्या भी उसके स्वार्थसिद्धि का राजनीतिक साधन बन जाये, यह नए दौर का वीभत्स यथार्थ है। इस वीभत्सता को मकई राम के पिता स्वामी प्रसाद की आत्महत्या के जरिये दिखाया गया है। यथार्थ का यहाँ सूक्ष्म अवलोकन है। इस आवलोकन को रूप और अंतर्वस्तु की सघनता के साथ उपन्यास में बुना गया है। यह उपन्यास भी किसान आत्महत्या की एक 'केस स्टडी' की तरह है, जो कई दृश्यों को उपन्यास के पन्नों पर उकेरता है। किसान के यथार्थ को उद्घाटित करने वाले दृश्य उपन्यास-कहानी में बार-बार आते है। ऐसा लगता है जैसे किसी ख़बर की रिपोर्टिंग चल रही हों और उसके साथ घटित होने वाली घटना को एक सूत्र में पिरो कर सामने ला दिया गया है।

यों तो हरेक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं लेकिन किसान के संबंध में एक ही जीवन स्थिति हम प्रेमचंद के दौर से पढ़ते आ रहे है। जो झलक प्रेमचंद के कथा साहित्य में किसान के संबंध में मिलती है कि कैसे 'होरी' को मार दिया जाता है, सामाजिक और औद्योगिक हथियारों के जरिये वह अभी तक हो रहा है, बल्कि शासक वर्ग के पास हथियारों की नई खेप भी आई है 'नव-उदारवादी व्यवस्था'। कथा साहित्य में रचनाकार का भाव-बोध युगीन संदर्भों और परिवेश के सहारे निर्मित होता है। अब प्रश्न है कि रचनाकार यथार्थ का अंकन करे या समाज को दिशागत बदलाव को भी प्रेरित करे। किसान समस्याओं को आधार बनाकर जो रचनाएँ लिखी जा रही है उनमे अपने युगबोध को लेकर एक नया दृष्टिकोण है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है 'विकास' की समझ को लेकर, जो नेहरुवियन विकास के तरीकों से लेकर नव-उदारवादी कॉर्पोरेट लूट प्रणाली तक अपनी समझ को अपनी रचनाओं के जरिये सामने लाता है। ये रचनाकार किसान जीवन में आए बदलाव को बेहद सूक्ष्म ढंग से पकड़ने का काम करते है। इन

कथाकारों में समाजिकता एक प्रमुख आयाम है और यह अपनी रचनाओं को लेकर मूलतः सिद्धांतवादी है अपने समाज के प्रति। समाज में हो रहे अन्याय की पड़ताल कर उसको सामाजिक आस्था के साथ अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करते है। संजीव का 'फाँस' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसके संदर्भ में आलोचक प्रियम अंकित लिखते है 'फाँस उपन्यास एक बार फिर इस मान्यता को साबित करता है कि उपन्यास की सार्थकता तभी है, जब वह सामाजिक दस्तावेज़ बने। हालाँकि, कथा-साहित्य में आज जो नई प्रवृतियाँ उभर कर आ रही हैं, उनमें यह मान्यता क्षीणप्राय हो चली है। अतः संजीव के उपन्यास 'फाँस' का आना हिन्दी कथा-साहित्य में महत्वपूर्ण घटना इसलिए भी है कि यह उपन्यास रूपी समुद्र में उत्पन्न नयी लहरों के बीच पहले से मौजूद मूल प्रवाह या धारा को, जो अब कमजोर पड़ रहा है, ताकत देता है।'[3]

1990 के बाद भारतीय ग्रामीण जन-जीवन का सम्पूर्ण परिवेश बहुत तेज़ी से बदला है। यह बदलाव हमारे समक्ष एक नया परिप्रेक्ष्य लेकर आता है। 1990 के पहले जहां सपनों के टूटने और उसकी अभिव्यक्ति का समय था, वही 1990 के बाद के दशक में सीधे-सीधे पूरी संस्कृति के आत्महत्या की कहानी है। 1936 में प्रेमचंद के 'गोदान' में होरी की मृत्यु हो जाती है, लेकिन वह सफर 1990 के बाद आत्महत्या में बदल जाता है। पिछले दो दशकों से अधिक का समय राष्ट्रीय, सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर पर भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता तथा नैतिकता के फलने-फूलने का दौर बना है। यहाँ सब कुछ क्षरण के दौर में है। जीवन के मानवीय मूल्यों का तेज़ी से विघटन हुआ है और जिसमें मेहनतकश इंसान को इस दुनियावी समझदारी में 'अजायबघर की वस्तु' के रूप में देखा जाने लगा है। इस तरह की समझदारी से देखने वालों की संख्या बहुतायत में है और यह बहुतायत संख्या मध्यवर्ग की संख्या है। मध्यवर्ग और अभिजन के सुविधाओं के नाम पर गरीब किसान-मजदूर का हक़ मारा जा रहा है और उसके श्रम का इस्तेमाल किसी और की सुविधा के लिए किया रहा है।

नवें दशक के आरंभ में हिन्दी कथा साहित्य बहुत ही विपरीत और नकारात्मक परिस्थितियों के बीच शुरू हुआ और कथा साहित्य में सृजन के स्तर पर शून्यता की

स्थिति थी। यद्यपि कुछेक रचनाओं ने इस सिलसिले को तोड़ा जिसमें जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान'(1995) और कैलाश बनवासी की कहानी 'बाज़ार में रामधन'(1997) हैं। इन कहानियों ने किसान के मुद्दे को सूक्ष्मता से सामने रखने का काम किया। इन दोनों कहानियों के माध्यम से भविष्य के कथा-साहित्य की संभावनाओं की झलक को देखा जा सकता है और इन कहानियों ने किसान के मुद्दे के संदर्भ में कुछ हद तक दिशा-निर्देशन का भी काम किया कि हमें किन सवालों को क्यों और कैसे उठाना है?

नवें दशक के मध्य से जिन महत्वपूर्ण कारकों ने जन-जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया, वे हैं पूंजीवादी प्रयोग से पैदा हुई उपभोक्तावादी संस्कृति। नई-नई आई सरकारी और निजी मीडिया ने इस उपभोक्तावादी संस्कृति को प्रचार-प्रसार के द्वारा घर-घर पहुंचाया गया। महेश कटारे की कहानी 'कूकाल में हंटर' मे कहानीकार बता रहा है कि गाँव में अकाल आया हुआ है, लेकिन विपदा की इस घड़ी में जो सबसे जरूरी मुद्दा है वह गाँव में आया हुआ अकाल न होकर कुछ और है। इस यथार्थ का स्वाभाविक रूप से वर्णन करते हुये महेश कटारे ने लिखा...'अकाल त्रस्त गाँव पर यह निहायत स्थानीय संकट था, पर दो दिन बीतते-बीतते आसमानी बिजली की तरह तीन खबरें टी. वी. के जरिये राष्ट्रीय शोक की भांति आयीं। पहली यह कि इंडिया की टीम ने बुरी तरह घुटने टेक दिये हैं। दूसरी में कहीं किसी परदेसिन ने भारतीय नारी का अभिनय करने गयी शिल्पा शेट्टी नाम की नायिका को रुलाकर मनुष्यता के प्रति ऐसा अपराध कर दिया है कि सरकारें सिहर उठीं। और तीसरी खबर में शेयर नाम का स्वर्ण-पाखी किसी निचली बुर्ज पर उतर गया था'।[4] यहाँ कथन में सामाजिक यथार्थ का स्वाभाविक विकास नजर आता हैं। स्थानीय संकट क्या है? राष्ट्रीय संकट क्या है? और वैश्विक संकट क्या है? यह निहायत ही नवें दशक के बाद पैदा हुये सवाल है जो एक देश में रह रहें लोगों को उनकी ही राष्ट्रीयता से अलग कर देता है। नवें दशक के बाद के दौर की कहानियों में कथ्य और शिल्प की वापसी भी तभी संभव हुई है जब यथार्थ को अतिरंजना के रूप न लाकर उसकी स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया गया हो, जो उपरोक्त उद्धृत कथन में दिखाई

पड़ता है। यहाँ स्वाभाविकता के रंग जीवन से लिये गए हैं, वह आरोपित प्रतीत नहीं होते हैं।

हम देखते हैं कि कथानक का तेवर भी वहीं बदलता है जहां रचनाकार परंपरा और आधुनिकता के टकराव को सामने लाता है। विरोधाभास और द्वंद को अपने कथानक का विषय बनाता है क्योंकि इनके जरिये ही कथानक के रूप को भी वह बदल देता है। जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान' और कैलाश बनवासी की कहानी 'बाज़ार में रामधन' ऐसे ही तेवर की कहानियां है। इन दोनों कहानियों में अपने समय का यथार्थ खुलकर चित्रित हुआ है। बैल को लेकर कहानी प्रेमचंद ने भी लिखी है 'दो बैलों की कथा', लेकिन वही बैल 1990 के बाद किस हालत में आ गए इसको नए सिरे से देखने की सफल कोशिश कैलाश बनवासी ने की है। भूमंडलीकरण, विदेशी पूंजी का बाहुतायत मात्रा में निवेश, भारतीय खेती पर विदेशी कंपनियों की ठेका नजर और खेती-किसानी में पारंपरिक यंत्रों की जगह नए यंत्रों का इस्तेमाल वर्तमान समय के खतरे को रचनाकार के सामने स्पष्ट रूप से रख रहे हैं। ऐसे दौर में जब खेती को आत्महंता का पेशा बना दिया गया है वहाँ पर अपने बैलों के लिए विशेष मोह रखना, इस यथार्थ को जानते हुये कि इन्हे आज नहीं तो कल बिक जाना है। लेकिन यहाँ मामला संवेदना का है और यह संवेदनात्मक अनुभूति ही है जो रामधन को अपने हाथों से बैलों को बेचने से रोक देती है। कहानी के अंत में जैसे बैल पूछ रहे हैं 'मान लो अगर दाऊ या महाराज तुम्हें चार हज़ार दे रहें होते तो क्या तुम हमें बेच दिये होते?' रामधन ने जवाब दिया, 'शायद नहीं, फिर भी नहीं बेचता, उनके हाथ तुमको'। 'बेचना तो पड़ेगा एक दिन!' बैल कह रहें है। 'आखिर तुम हमें कब तक बचाओगे रामधन! कब तक?'

जवाब में रामधन मुस्करा दिया.... एक बहुत फीकी और उदास मुस्कान अनिश्चितता से भरी हुई। रामधन अपने बैलों से कह रहा है, देखो हो सकता है अगली हाट में मुन्ना तुम्हें लेकर आए'।[5]

बैलों के साथ रामधन का यह सवांद केवल किसी नोस्टेलजिया या मोह का नहीं हैं। बल्कि रामधन का बैलों के साथ यह संवाद उस ग्रामीण संस्कृति का परिचायक भी है जो दिनों-दिन नष्ट होती जा रही है, जहां पशुधन ग्रामीण घरों में धरोहर के रूप में देखे जाते रहे हैं। इस कहानी की चर्चा करते हुये आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं 'जरूरी नहीं कि अच्छी कहानी वही हो जो किसी किसान के जीवन को या गाँव के वातावरण को लेकर लिखी गई हो। लेकिन ये भी सच हैं कि प्रेमचंद की अधिकांश श्रेष्ठ कहानियाँ गाँव की पृष्ठभूमि पर ही आधारित है... अपनी इसी साहित्यिक विरासत के आधार पर आज यही कहने को जी चाहता है कि भूमंडलीकरण के आक्रामक दौर में नष्ट होती हुई ग्राम संस्कृति और आत्महत्या के लिए विवश किसानों को केंद्र में रखकर किया जाने वाला कथा-सृजन ही अपनी साथर्कता प्रमाणित कर सकता है'[6]।

यथार्थपरक कथाओं के साथ सबसे बड़ी चुनौती उसकी प्रामाणिकता को लेकर आती है। जैसे कि कोई उपन्यास या कहानी विदर्भ को लेकर हो और वहाँ का जो परिदृश्य है वही गायब हो, तो उस कथा-साहित्य में तो उसकी प्रामाणिकता पर प्रश्न जरूर खड़ा होगा। क्योंकि वर्तमान समय सूचनाओं के तंत्र का है और गोर्की को पढ़ने वालों के लिए प्रेमचंद भी उतने ही नजदीक है जितना प्रेमचंद को पढ़ने वालों के लिए गोर्की। इसलिए जब भी साहित्य के इतिहास पर विचार होता है तो वहाँ पर मानव जीवन के यथार्थ को बुनियादी तौर पर समझने की जरूरत महसूस होती है। रचना और विचारधारा की दुनिया में जहां कथा-साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है वहाँ कथा-कहानी का जो शास्त्र हैं उसका गहरा संबंध उस कहन के कहने, कथा के चुनने के समय से है। इस दौर में जहां कथाकारों ने समकालीन समय, समाज परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर कथाओं की दुनिया को रचा है। किसान की दुर्दशा और उसकी समस्या को लेकर लिखे गए उपन्यासों में 'फाँस' (2015) एक केंद्रीय उपन्यास है। कृषि जिसे भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ कहा जाता है लेकिन आज वहीं किसानों के गले की 'फाँस' बन गई है। इस समस्या को गहराई से समझने की दिशा में संजीव का उपन्यास 'फाँस' एक सफल कोशिश है। यह उपन्यास वरन केवल समस्या तक न होकर बल्कि उसके साथ जितने चर्चित विमर्श और आंदोलन चल रहे हैं, उसकी भी स्पष्ट छायाएँ इस उपन्यास पर देखी जा सकती है। 'फाँस' में अभिव्यक्त जटिलता को सामने रखते हुये

सुधीर सुमन लिखते हैं, "'फाँस' को पढ़ते हुये हर बार एक गहरी उदासी दिलों-दिमाग पर तारी होने लगती है। तीन बार पढ़ने के बाद भी मेरे लिए मुश्किल यह थी, कि किसानों की दुर्दशा, खासकर जिन इलाकों में किसान अत्महत्या कर रहे हैं, उनके जीवन की त्रासदी की परतों को उधेड़ कर सामने लाते इस उपन्यास पर क्या लिखा जाए! बेशक इस उपन्यास में तमाम प्रतिकूलताओं के विरुद्ध संघर्ष करती शंकुतला और कलावती, विजयेन्द्र, मल्लेश, नाना और वर्धा की सिंधु ताई जैसे अविस्मरणीय चरित्र हैं, कृषि की जनपक्षीय वैकल्पिक दिशा की तलाश है, पर उदासी और दुख का माहौल इतने गहराई तक है कि जिसके फाँस से निकल पाना मेरे लिए बहुत ही कठिन था। यह उपन्यास अपने पूरे प्रभाव में पाठक को निःशब्द कर देता है। 'गोदान' जैसे उपन्यास या 'मदर इंडिया' और 'दो बीघा जमीन' फिल्मों से भी ज़्यादा जटिल यथार्थ है साम्राज्यवादपरस्त-कॉर्पोरेटपरस्त तंत्र में किसानों की तबाही का, जिसे संजीव ने इस उपन्यास में उसके बहुस्तरीय परतों के साथ दिखाने की कोशिश की है'।[7]

किसान आधारित लिखे गए उपन्यास की कलात्मकता वहाँ उभर कर आती है जब कथा केवल किसान की कहानी या उसकी समस्या को ही नहीं कहता बल्कि उस समस्या के जरिये पूरे ग्रामीण समाज का आकलन सामने छोड़ जाता है। संजीव जहां किसान के विमर्श के साथ जाति के सवाल को, उसके आडंबर को, बौद्ध धर्म में परिवर्तन की कहानी, स्त्री के प्रश्न साथ ही सरकारों द्वारा उनकी उपेक्षा और कृषक विरोधी नीतियों पर बहस के साथ ही सामाजिक विभेदकारी उत्पीड़न की कहानी को भी सामने लेकर आते है। इस उपन्यास में किसान का यथार्थ पूरे ग्रामीण समाज के यथार्थ के रूप में उभरकर सामने आता है यह 'फांस' की विशेषता है। फांस एक शोधपरक उपन्यास के रूप में हमारे सामने आता है। जिसमें विदर्भ के यवतमाल जिले के एक गाँव 'बनगांव' की कहानी है। किसानी विदर्भ के 'बनगांव' से इंदौर के 'सिंद्राणी' तक के लोगों के खून में है, जो खेती के स्थान पर अपने जान की बाज़ी लगा देते हैं, लेकिन खेती को नहीं छोडते। इस यथार्थ को अपने कथानक के जरिये आम पाठक तक सहजता के साथ संप्रेषित कर देना संजीव जैसे सिद्धहस्त कथाकार के बदौलत ही हुई है। उपन्यास में मौजूद विषय के

साथ पूरी विश्वसनीयता को बरतते हुये रचनाकार ने शिल्प का कोई बंधा-बँधाया पक्ष न पकड़कर शिल्प के खुरदुरेपन को गढा हैं। 'फांस' के कथानक और उसके शिल्प पक्ष को लेकर विवेक मिश्र लिखते है 'साहित्यालोचन में की जाने वाली भाषा, शिल्प और कलात्मकता की बातें बेमानी लगने लगती हैं। और शायद यहीं कारण है कि संजीव जैसे एक सिद्धहस्त कथाकार ने एक कड़वे, कठोर और झुलसा देने वाले सच को पाठकों के सामने रखने के लिए भाषा और शिल्प भी सीधा, मारक और भेद रख देने वाला चुना है'[8]। 21वीं सदी के प्रारम्भ से हिन्दी में कुछेक शोधपरक उपन्यास लिखें गए हैं, लेकिन उनमे से संजीव का 'फांस', राजू शर्मा का 'हलफनामे' और सुनील चतुर्वेदी का 'कालीचाट' महत्वपूर्ण शोधपरक यथार्थवादी उपन्यास के रूप में हमारे सामने आए हैं। शोधपरक उपन्यास या कहानी की रचना प्रक्रिया के दौरान लेखक स्वयं उन प्रभावित क्षेत्रों में जाते हैं, वहाँ रुकते है और वहाँ के पीड़ित लोगों से मिलकर वहाँ विद्यमान समस्याओं से रूबरू होते हैं। इसकी वजह से शोधपरक यथार्थवादी उपन्यासों में वहाँ के पात्र समस्याओं के कोलाज के रूप में सामने आते हैं। इस तरह के कथा साहित्य के पात्र लेखक की कल्पनाओं से ही नहीं उपजते, बल्कि वह जीते-जागते संघर्ष करते हुये चरित्र हैं जो लेखक के जरिये अपनी कथा को कहने उपन्यास में चले आयें है। सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'कालीचाट' और राजू शर्मा द्वारा रचित उपन्यास 'हलफनामे' किसानी में पानी की समस्या और उपलब्धता को लेकर लिखे गए है। 'कालीचाट' उपन्यास में एक उपकथा के जरिये किसानी संघर्ष, भ्रष्टाचार, शासन् व्यवस्था तंत्र की असफलता, सरकारी और गैर-सरकारी संस्थानों के लूट का खेल और इस सबमें खत्म परिवार नाम की संस्था का विवरण है। ग्रामीण जीवन में भी किस तरह एक साथ एक जगह रहने वाले लोगों के बीच में आपसी विश्वास और भरोसा खत्म हो रहा है इसकी भी पड़ताल है; इस उपन्यास में समानांतर कथाओं के जरिये यह बताया गया कि बाज़ार ने किस तरह हमारे समाज में अंदर तक घुसपैठ बना ली है। 'बाज़ार एक आक्टोपस की तरह है। वह पूरी दुनिया को अपनी भुजाओं में जकड़कर निचोड़ लेना चाहता है। इसी आक्टोपस ने हमारी भी आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक विरासत को ध्वस्त कर दिया..... और एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया है जो उस पर पूरी तरह निर्भर है'[9]। किसान आधारित

रचनाओं में बाज़ार एक उपदान की तरह है। 'बाज़ार में रामधन' हो या शिवमूर्ति का 'आखिरी छलांग' इन रचनाओं में बाज़ार की उपस्थिति को ये रचनानाएं नये धरातल पर ले जाती हैं। इन रचनाओं में बाज़ार की मौजूदगी रचनात्मक औज़ार के रूप में है। 'बाज़ार में रामधन' में रामधन बैलों को लेकर जाता है और वापस भी आ जाता है उन्हें बगैर बेचें हुये, लेकिन उतने भर में बाज़ार ने अपनी मौजूदगी कहानी में बनाए रखी और उसने कहानी के कथ्य को सबसे अधिक अर्थवान भी बनाया है।

5.1 कथा साहित्य के संरचना में किसान

युगबोध के बदलाव के साथ कथा साहित्य के रचनात्मक समायोजन और सौंदर्य-व्यवहार में कई तरह के परिवर्तन आए और कथा-साहित्य अपनी रचनात्मकता से मानव जीवन के और नजदीक आया। भूमंडलीकरण के इस जमाने में किसान भी चाहता है कि उसका संघर्ष और सृजन मानव इतिहास में ऐतिहासिक घटना बन जाये लेकिन इसके उलट उसके जीवन की 'आखिरी छलांग' सबों के ऊपर एक अंतिम प्रश्न की तरह प्रतीत होती है। इन रचनाओं के संदर्भ में आलोचक प्रमिला केपी का विचार उचित प्रतीत होता है जिन्हें वह शिवमूर्ति के संदर्भ में प्रकट करते है, इतिहास एवं राजनीति से आलोचनात्मक संबंध इन उपन्यासों को एक अलग कशिश देता है। लेखन एवं वाचन को उपन्यासकार परंपरागत अर्थ की प्रक्रिया नहीं मानता है। राजनीति से जुड़े संदेहों और आशंकाओं को पिरोए बिना समकालीन उपन्यास आगे नहीं बढ़ सकता है। समाज की चकाचौंध और ध्रुवीकृत भीतरी जीर्णता परस्पर विरोधी है। पर शोषक-शोषित द्वंद से यहाँ पर लेखक खेलता नहीं है। उसके अनुभवपटल में शोषण या शोषित स्थितियाँ का स्वभाव भी थोड़ा है। शोषण कॉर्पोरेट एजेंडा है। समयानुसर जाति, धर्म, वर्ण एवं स्वार्थ उसके उपकरण होते रहते है। 'आखिरी छलांग' किसान की नहीं, उस खेतीबाड़ी सभ्यता की है, जिसे समझाने के लिए उपन्यासकार, उसकी सही स्थिति का ठीक जायजा पेश करता है, 'किसान नाम की जाति की विलुप्ति' (नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008, पृ 93) की वह भविष्यवाणी देता है। यहाँ पर 'किसान' अंतराष्ट्रीय कॉर्पोरेट किसान-बुर्जुआ नहीं है। दो या तीन भाग की जमीन में पंपरागत ढंग से काम करके जीवन व्यतित करने वाला

भारतीय खेतिहर। पूरे उपन्यास में 'मामूली चपरासी की जिंदगी भी औसत किसान की जिंदगी से बेहतर होती है', 'किसानी के पेशे में बरकत नहीं होनेवाली(पृ-93) आदि सोच-विचार इसी का परिपाक है'।[10]

आज तेजी से बदलते हुये दौर में कथा-साहित्य मीडिया के करीब चला गया है। कथा को कहने में मीडिया के चरित्र का उसके ऊपर प्रभाव पड़ रहा है। 'कई लघु-आख्यानों में विकसित कथागतियों द्वारा वह औपन्यासिक महिमा का वहन करता है। कई संदर्भों पर क्रियात्मक भाषा शैलियों के बल पर वह संचरित दृश्य-विन्यास और रूप निर्माण की संभावनाएं कायम करता है। पर यह भी जोड़ देना अनिवार्य है कि समकालीन उपन्यास के सामने सबसे बड़ा संकट मीडिया द्वारा आगे रखने वाली चुनौतियाँ ही हैं। यह सिर्फ लेखन, वाचन और आस्वादन की ही नहीं, स्वत्व-स्थापन, विनिमय एवं प्रसार भी है। लेखन के पहले ही उपन्यासकार के सामने ऐसे कई संकट उभर आते हैं, जिनमे सबसे अहम है तकनीक एवं प्रौद्योगिकी का अभूतपूर्व प्रभाव, जो समकालीन मानुषी-जीवन को घेर कर लेता है। रूप, शैली एवं कथा-कथन को तैयार करते समय उसके सामने हर दिन की अखबारी खबरें हैं, जो साहित्य एवं कला के यथार्थवाद को बहुत पीछे छोड़ देती हैं। थल-काल के फ़ासलों का संकोच विश्वजाल का प्रसार, जैव-तकनीकी का उडान, पारिस्थितिक संकट आदि की पृष्ठभूमि में यथार्थ समस्याओं को उभारने का प्रयास एकदम आधा-अधूरा रहने का पूरा क्राइसिस है। विपरीत में देखा जाए तो उपन्यासकार को और उतेजना देने व नवमार्ग निर्माण के लिए प्रेरित करने में भी ये सहायक हैं। क्योंकि ये चुनौतियां पुरानी से भिन्न ही नहीं, आत्मविश्वास को जागृत करने वाली भी हैं'।[11] इस आत्मविश्वास की स्वीकृति संजीव के इन कथनों में मिलती है '*मंच* पत्रिका के संपादन के दौरान किसानों की आत्महत्या की ख़बर पाकर मैं विचलित होता रहा। बाद में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा में अतिथि लेखक के रूप में विदर्भ के 11 ज़िलों के किसानों की स्थिति को बहुत क़रीब से देखने, जानने और समझने का अवसर मिला, जिससे मैं इतना विचलित हुआ कि मुझे लगा तीन लाख से अधिक किसानों की आत्महत्या से बड़ा मेरे लिए और कोई

लेखकीय सरोकार नहीं हो सकता। उन्होंने कहा कि उपन्यास में लिखी सारी बातें सच है और उपन्यास ने लिखते वक्त मुझे बहुत रुलाया है। उन्होंने कहा कि किसान की आत्महत्या देश की आत्महत्या है[12]। वरन संजीव ही नहीं बल्कि सुनील चतुर्वेदी, राजू शर्मा, सत्यनारायन पटेल, अरुण कुमार असफल, महेश कटारे आदि रचनाकार अपनी कृतियों में सिर्फ समस्या या उसकी विडंबनाओं की ही केवल बात नहीं करते बल्कि उसके समाधान के विकल्प की भी चर्चा करते हैं। 'एक लेखक या किसी भी कला विधा के सर्जक की भूमिका की कोई निश्चित परिधि तो तय नहीं की जा सकती, पर किसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करना उसके कार्यक्षेत्र का अनिवार्य हिस्सा है या फिर व्यवस्था को समाधान खोजने की दिशा में उद्यत करना यह एक विचारणीय प्रश्न है'।[13] किसी भी रचनाकार द्वारा अपनी कृतियों में समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के आग्रह का मूल कारण उनके शोध की यह अंतर-अनुशासनिक प्रविधि और यथार्थ को लेकर गहरी समझ ही है जो उसके समाधान पर बातचीत करने के लिए प्रवृत करती हैं। हम देखते हैं कि रचना प्रक्रिया के दौरान अंतर-अनुशासनिक शोध की सभी या कि अधिकतम प्राप्तियों का रचना में उपयोग कर लेने का लेखकीय लोभ कई बार कृति के कलात्मक रचाव में समस्या भी खड़ा करता है। किसी भी कथा-कृति के कुछ हिस्सों का अत्याधिक विवरणात्मक या सूचनात्मक हो जाना या समाधान प्रस्तुत करते हुये कृति का किसी खास खांचे की जद में आ जाना, ऐसी ही दिक्कतों के कुछ उदाहरण हैं, जो 'फाँस', 'कालीचाट' में दिखलाई पडते हैं। लेकिन बावजूद इसके इन रचनाकारों ने जिस तरह इस उपन्यास के कथा-परिवेश के तहत किसान की त्रासदियों को घटनाक्रम की सम्पूर्ण सामाजिक विडंबनाओं के साथ सामने लाने का प्रयास किया है, वह न सिर्फ हमारी संवेदनाओं को झकझोरता है बल्कि उपन्यास को कलात्मक ऊंचाई भी प्रदान करता है। यही कारण हैं कि पात्रों के सुख-दुख, राग विराग, उत्साह-हताशा एक सीमा से आगे बढ़ने के बाद पात्रों की काया से निकल कर पाठकों की संवेदना का हिस्सा बन जाते हैं। पात्रों की संवेदना को पाठकों की संवेदना से जोड़ देने का ही यह नतीजा है कि इनकी रचनाओं के पात्र अपने पाठ के दौरान और उसके बाद भी देर तक हमारे भीतर किसान संबन्धित समस्याओं के संदर्भ में सोचने के लिए मजबूर करते है।

भारतीय समाज अपनी सामाजिक संरचना के स्तर पर बेहद जटिल है। इस संरचना में वर्ण, वर्ग, लिंग, जाति, धर्म-संप्रदाय इस कदर एक दूसरे से नाभिनाल हैं कि बगैर एक दूसरे को समझे भारतीय समाज की संरचना को नहीं समझा जा सकता है। जब भी कोई किसान आत्महत्या पर बात करता है तो उसके लिए भारतीय समाज के अंतर्संबंधों को समझना अनिवार्य हो जाता है। इस तरह की रचनाओं के लिए जरूरी हो जाता है कि कथा के मुख्य प्रसंग और कथा के दूसरे अंशों को एक साथ इस तरह से बुना जाए कि वह कथा संरचना को मजबूत करने के साथ ही सामाजिक संरचना और मानवीय संवेदना को भी कथा में उभार कर सामने ले आए।

अपनी विकास यात्रा में हिन्दी कथा-साहित्य ने शैली-शिल्प और ढांचे को लेकर अनेक प्रयोग किए है, लेकिन इन प्रयोगों की साथर्कता को हमेशा उसकी अंतर्वस्तु के संदर्भ में स्वीकार किया गया है। दुनिया भर में उपन्यास, कहानी का ढांचा अमुमन एक जैसा रहा है। प्रमुख सवाल है कि ढांचे के अंदर सामग्री क्या है? हर कहानी अपने विशिष्ट समाज की अंतर्वस्तु के कारण ही वह एकरूपता से बचता है। उसकी यह अंतर्वस्तु ही उसके ढाँचे को भी निर्धारित और प्रभावित करती रहती है। बहुत हल्के-फुल्के ढंग से यह कहकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है कोई लेखक समाज की अधिक चिंता करता है और कोई लेखक समाज की चिंता ही नहीं करता, प्रश्न है कि लेखक समाज को किस रूप में सामने लेकर आता है? वह पाठक के सामने क्या प्रस्तुत करना चाहता है? कथा साहित्य अपने प्रारंभिक दौर से सर्व-समावेशी साहित्य का रूप रहा है, यद्यपि उपन्यास कथा साहित्य के समावेशी रूप को बड़े स्तर पर सामने लाने का कार्य करता रहा है। यही कारण है कि कथा साहित्य पाठकीय अभिरुचि को भी पूरा करता है। किसी भी कथा साहित्य में जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति और जीवन की वास्तविक उपस्थिति ही उसका मुख्य आकर्षण होती है। पाठकीय अभिरुचि और संस्कार भेद के बावजूद यही तत्व कथा-साहित्य को स्वीकार्यता प्रदान करने का कार्य करता है। रचना में जीवन का एक अपरिचित या भिन्न रूप या फिर उसको प्रस्तुत करने वाली प्रविधि इसी जीवन-तत्व के संदर्भ में सार्थक या निरर्थक होती है।

उपन्यास को लेकर एक बहुत प्रचलित कथन है कि उपन्यास अपने जन्म से ही मध्यवर्ग की आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य-रूप का माध्यम है।

लेकिन फिर भी इसमें मध्यवर्ग के बाहर का विशाल जीवन भी स्थान पाता है। कथा साहित्य के ऊपर यह आरोप भी प्रत्यारोपित किया जाता है कि किसान जीवन के महाकाव्य के रूप में परिभाषित किए जाने की जो कोशिश उपन्यास के साथ होती है, वह उसके क्षेत्र को सीमित कर देने के साथ ही अपने पूर्वाग्रहों को उसके ऊपर थोपना भी है। लेकिन सच्चाई यह भी है कि बुनियादी वर्ग के रूप में किसान-मजदूर वर्ग पर लिखे गए प्रामाणिक औए संवेदनशील अतर्वस्तु वाले रचनाओं से कथा-साहित्य को नई जीवन शक्ति भी मिलती है। किसान उपन्यास के बारे में दो बातें शुरू से उठाई जा सकती हैं, पहली बात यह कि यह उपन्यास भारतीय समाज का रियल टेक्स्ट है और दूसरी यह की उपन्यास के टैक्स्ट को पारंपरिक परिप्रेक्ष्य में रख कर पढ़ने की मांग करता है। रियल टेक्स्ट की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि जब दुनिया महामंदी से जूझ रही थी, तब भारतीय समाज संभल रहा था क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ किसान और किसानी है। किसान जीवन को इस आधार पर भारतीय समाज का रियल टेक्स्ट कहना उचित होगा। प्रेमचंद और रेणु ने यह रियल टेक्स्ट दिया था। किसान जीवन आधारित रचनाओं के संदर्भ में आलोचक नित्यानंद तिवारी ने फाँस के कथानक के संदर्भ में कहा, 'उपन्यास की थीम बन कर दोनों की कला संरचनाएं उपनिवेशवादी राष्ट्रवाद और स्थानीयता के बीच के अवकाशों से बनती है। संजीव के इस उपन्यास में नेशनल, लोकल और ग्लोबल के बीच के अवकाश से कहानी की आधार संरचना बनती है। इस तरह *मैला आँचल* की तरह ही इस उपन्यास को उदारीकरण के बाद का ट्रेंड सेट्टर उपन्यास कहा जा सकता है। उन्होंने आगे कहा कि यह उपन्यास जीवन और समाज में रूपांतरण की प्रक्रिया पर बल देता है, जैसे पानी सामाजिक वस्तु से किस तरह बाज़ार की वस्तु बन गया । इसी तरह बहुत सी चीजों और सामाजिक तबक़ों का रूपांतरण हो रहा है ।इस रूपांतरण के सूक्ष्म संकेतों से यह उपन्यास रचा गया ।उपन्यास पर बोलते हुए कथाकार हरियश राय ने कहा कि किसानों की आत्महत्या की भयावह त्रासदी और अमानवीय समाज व्यवस्था के भीषण अपराध के प्रतिरोध के रूप में संजीव ने यह उपन्यास लिखा है। प्रेमचंद और रेणु सामंती व्यवस्था, जाति व्यवस्था में फंसे किसानों की मार्मिक कथा कहते हैं, जबकि संजीव भूमंडलीकरण के आक्रामक दौर में कृषि की बदहाली और उस बदहाली के कारण किसानों की आत्महत्या की कथा कहते है'।[14]

मौलिक लेखन समाज को गहरी दृष्टि प्रदान करता है। यह देखना सुखद है कि पिछले दो दशकों से हिन्दी कथा साहित्य ने अधिक सामर्थ्य के साथ अपनी चौहद्दियों का विस्तार किया है। अब कथा साहित्य के जनतंत्र में ऐसे लोग और उनका समाज केंद्रीय स्थान प्राप्त कर रहा है जो भारतीय लोकतन्त्र और उसके द्वारा अपनाए गए विकास प्रणाली के चलते अपनी हीं ज़मीन-संस्कृति और समाज से बेदखल हो रहा है। इस बेदखल हो रहे वर्ग मे सबसे अधिक वह लोग है जो निम्न-वर्गीय हैं। कथा-साहित्य के इस नए समाज वर्गीय चेतना ने झूठे राष्ट्रीय मुहावरों को बेपर्दा करने का भी काम किया है। 'इस नए समाज में 'विविधता में एकता' के सर्वग्रासी मुखौटे को बेपर्दा करके 'राष्ट्र' और 'एकता' सरीखी पदावलियों का विखंडन किया जा रहा है। यहाँ संस्कृति की राष्ट्रवाद से टकराहट है तो अस्मिता को अस्तित्ववाद में विलयित करने की छूट भी नहीं है। यहाँ संस्कृति और अस्मिता के प्रश्न दार्शनिक अमूर्तन में विलयित न होकर जीवन की ठोस सच्चाइयों में नई अर्थवत्ता प्राप्त करते हैं। भारतीय समाज की बहुलतावादी संरचना में आवाजाही करते ये उपन्यास प्रेमचंद के शब्दों में 'जीवन संग्राम' की भाषा में रचे-बसे हैं'।[15] इस संदर्भ में वीरेंद्र जैन का 'डूब', राजू शर्मा का 'हलफनामे', शिवमूर्ति का 'आखिरी छलांग' उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय है. 'डूब', 'हलफनामे' और 'आखिरी छलांग' स्वतंत्र भारत के ग्राम्यांचल की नई संघर्ष गाथा हैं। इन तीनों उपन्यासों में सामंती समाज के उत्पादन-संबंधों की जड़ता तथा विकास की नई और पुरानी दोनों प्रणालियों की विफलता सब एक साथ उपस्थित है। पंडित जवाहरलाल नेहरू की हरित क्रांति, इन्दिरा गांधी के आपातकाल से लेकर सूदखोरी, कर्ज़, धार्मिक शोषण, सामाजिक शोषण, वर्णाश्रम व्यवस्था, बेदखली, मुआवजा, चुनावी तिकड़म के जरिये एक ऐसे भारतीय समाज का चित्रण है 'जिसमें ठहराव की जकड़न भी है और बदलाव की पीड़ा भी'। कथा साहित्य में ये उपन्यास नए दौर के उपन्यास है। ये उपन्यास विकास के उस मॉडल पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है, जो विकास के नाम पर अपने हीं नागरिकों को विनाश का निमंत्रण देता है। व्यापक फ़लक पर भारतीय समाज के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक यथार्थ को समेटे ये उपन्यास आरंभ से अंत तक एक व्यापक राष्ट्रीय रूपक की रचना करते है। इस संदर्भ में कथा को कहने के लिए जिस कथाभूमि का

सहारा लिया गया है वह अत्यंत प्रामाणिक और सहज है। 'डूब' में बेतवा के किनारे बसे बुंदेलखंडी इलाके की बोली-वाणी में रचे-पगे इस उपन्यास का भाषिक मुहावरा कथ्य में इस तरह रचा-बसा है कि उसके पीछे कोई अतिरिक्त प्रयत्न कौशल नहीं दिखाई देता। इस तरह 'हलफनामे' वर्तमान समय में किसी भी राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाला उपन्यास हो सकता है। इस उपन्यास में मकई राम किसान आत्महत्या योजना से अपने पिताजी के मौत का मुआवजा हासिल करने के लिए एक हलफनामा दाखिल करता है। कथा के संदर्भ के साथ उपन्यासकार ने भारतीय समाज का एक असाधारण आख्यान रच दिया है। जहाँ एक तरफ शासन् तंत्र की निर्दयिता है, उसके फरेब का वृतांत है तो वही दूसरी तरफ सामान्यजन के संघर्ष की गाथा भी है। यों तो उपन्यास आज के दौर में जो पानी का संकट है उसकी कहानी को भी विस्तार पूर्वक कहता है, और इस कहने के जरिये ही हमारे उतर आधुनिक समाज के विकास मॉडल के खोखले दावों की पोल भी खोलता चला जाता है। इन सबके साथ उपन्यास में ग्रामीण विकास का वैकल्पिक सर्जनात्मक पाठ भी प्रस्तुत करता हैं। हलफनामे इस अर्थ में महत्वपूर्ण रचना के रूप में हमारे सामने आता है, जहाँ यथार्थ और संरचना दोनों एक-रेखीय नहीं हैं। यहाँ यथार्थ के भीतर भी बहुत सारे यथार्थ हैं। यह उपन्यास वास्तविकता की उखड़ी-रुखडी जमीन पर सर्जनात्मक कल्पना की ऊंची उड़ान है।

शिवमूर्ति के 'आखिरी छलांग' का 'पहलवान' जीवन की मारक परिस्थितियों के खिलाफ आखिरी छलांग लगाने को है। मौत की छलांग के पूर्व पांडे बाबा की बरसी में सुने भाषणों ने उसे नई ताकत दी है। वे नए सुरजी बनेंगे, जीवन के संकटों से जूझने के लिए जैसे 'मैला आँचल' का बावनदास। पहलवान घरबारी होने के बावजूद बावन की तरह परेशान, क्षुब्द्ध और जीवन से आजिज़ है। इस तरह की मनः स्थिति ने उसके अंदर एक ताकत भर दी है। रचनाकार ने अशेष संवेदना दी है इस भारतीय किसान के चरित्र को, तभी जब वह अंतिम छलांग लगा रहा होता है तो उपन्यास की अंतिम पंक्ति है 'पी. सी. एस. देखता तो कहता– जैसे जाल पड़ने पर मछलियाँ उछलती हैं...यह मौत के खिलाफ लगाई गई छलांग है....आखिरी छलांग'।[16] किसान की यह त्रासदी भारतीय समाज के यथार्थ का स्थाई प्रसंग है। भारतीय किसान के लिए जीवन संघर्ष भरा ही रहा

है। शिवमूर्ति ने किसान जीवन के त्रासद पहलुओं को बड़े ही मार्मिक ढंग से 'आखिरी छलांग' में उतार दिया है, जिसमें हरेक संघर्षशील किसान की कहानी का अक्स नजर आएगा। प्रेमचंद के किसानों की मूल समस्या ऋणग्रस्तता थी, तब बनिए महाजन और साहूकार थे, आज वीरेंद्र जैन, संजीव, राजू शर्मा, सुनील चतुर्वेदी, कैलाश बनवासी, महेश कटारे, सत्यनारयन पटेल आदि जैसे कथाकारों के समय में लोकतान्त्रिक सरकार, बैंक और कॉर्पोरेट घरानों ने उनका स्थान ले लिया है। सत्यनारायन पटेल की कहानी 'लाल छींट वाली लुगड़ी का सपना' में किसान डुंगा एक सपना देखता है। एक ऐसा सपना जिसे वह हर हाल में अपने खेती-किसानी के जरिये ही पूरा करना चाहता है और उसकी यह जिद साम्राज्यवादी वर्तमान के सपने को खतरे में डाल रही होती है। समय के साथ प्रतिरोध की संस्कृति का विकास कैसे होता है, इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है सत्यनारायन पटेल की यह कहानी। इस 'कहानी की एक सबसे बड़ी, सार्वभौमिक और सार्वकालिक विशेषता उसका कहानीपन है। यदि उसकी तमाम अन्य विशेषताएँ हटा दी जाएँ तो भी चलेगा मगर कहानीपन नहीं, कथारस नहीं है तो उसे कहानी कहना कठिन है। शायद यही उसकी एकमात्र कसौटी हो सकती है/ होनी चाहिए। कम-से-कम मेरी दृष्टि में यह कहानी का प्राणतत्व है। यदि यह नहीं है तो फ़िर चाहे जितनी भी पच्चीकारी की जाए, शैली और शिल्प का कितना भी कमाल दिखाने का प्रयास हो, उसे कहानी कहने में मुझे संकोच होगा'।[17] किसान आधारित कहानियों में मौलिकता और ताजगी की जो तलाश है वह कैलाश बनवासी, सत्यनारायन पटेल, अरुण कुमार असफल, महेश कटारे की कहानियों में विशेषकर मिलता है। इनकी कहानियाँ समाज का वैकल्पिक इतिहास रचने की हद तक चिंतित नजर आती है। यह चिंता इनकी कहानियों में उभरकर सामने आता है। जीवन के यथार्थ की चिंताओं को कैसे जीवन के सरोकार से जोड़ा जा सकता है, वह इन कहानियों में दर्ज हैं। इन रचनाकारों के यहाँ में हमें भूमंडलीकृत आर्थिक अर्थव्यवस्था, उदारीकृत बाज़ार के तहत होने वाली आम आदमी की विवशता के दर्शन होते हैं। व्यवस्था के समक्ष आदमी पंगु हो गया है। लेकिन इन रचनाकारों के पात्र चुप हो कर नहीं बैठते हैं। वे संघर्ष करते हैं और अपनी संवेदना को जिंदा रखते है। क्योंकि जब तक संघर्ष जारी है तब तक हार मानने, निराश होने की

जरूरत नहीं है। 'यही आशावाद इन कहानियों को सकारात्मक रुख देता है। उनकी कहानी के पात्र उल्लसित और ऊर्जा से भरपूर होते हैं। 'लाल छींट...' का डूंगा कहीं 'पूस की रात' के नायक की याद दिलाता है। दोनों अभावों के बावजूद खुश हैं। एक दूसरों के खेत (सत्ता) के नष्ट होने से, दूसरा कंपनी के डूब जाने से। दोनों खुश हैं क्योंकि अब उनका शोषण करने वाले कमजोर पड़ गए हैं। हालाँकि डूंगा मासूम है उसे शातिर खेल की जानकारी नहीं है'।[18] यद्यपि अरुण कुमार असफल की कहानी 'तरबूज का बीज' का पात्र 'गणेशी का बाउ' अपने प्रतिरोध में वह कुछ ऐसा नहीं कर पाता है, जो डुंगा या रामधन या गौरीनाथ करते हैं, लेकिन 'तरबूज के बीज' कहानी खेती-किसानी के नए यथार्थ को बारीकी से पकड़ती है और परत-दर-परत उघाड़ती चली जाती है। कहानीकार ने 'बीज' के जरिये कहानी के रूपक को गढ़ा है। अतिरिक्त लाभ की चिंता से ग्रस्त मानव समाज के बीच एक ऐसे 'बीज' को सामने लाया जाता है जो किसान की सहज आत्मीयता को पागलपन की हद में बदल देती है। जहां उसकी ऊर्जा, ज़मीन और श्रम सब पूँजीपतियों के सामने एक 'बंधुआ मजदूर' के रूप में बदल जाता है। गणेशी के बाउ के द्वारा उगाये गए तरबूज का रस 'खून' के जैसा होता है और उसे भ्रम होता है कि यह उसका ही खून है। भूमंडलीकरण के इस युग में जहां तकनीक ने मनुष्य को महज एक मुनाफा देने वाले श्रमिक इकाई में बदल दिया है, जिसमें उसका रक्त तो मिला हुआ है लेकिन वह उस रक्त को स्वयं ही सह नहीं पाता है। इस कहानी के संदर्भ में कथाकार राकेश बिहारी का यह कथन उचित मालूम पड़ता है कि यह 'कहानी किसानों की बदहाली और उनके बुरे समय का उल्लेख करते हुए विस्तार से बताती है कि किसान कैसे आज आत्महत्या के लिए मजबूर निर्णय और जीने की उत्कट चाह के बीच त्रिशंकु बना बैठा है। उसके व्यवहार ने घर में ही उसकी विश्वसनीयता पर संदेह खड़े कर दिए हैं। औरतें खोज-खोज कर उन तमाम चीजों को घर से बाहर कर रही हैं, जिसमें उसके पति को आत्महत्या का कोई नवीन उपकरण न दिख जाए। वहीं हालात के दूसरे छोर पर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी खड़ी हैं जो किसान को खेतिहर से नौकर बनाने में लगी हुई हैं, एक ऐसा नौकर जो आज न कल उसकी गिरफ्त में आ कर अपना दम तोड़ ही देगा। लेकिन इस कहानी की दिक्कतें

दूसरी हैं। जिस तरह कुणाल सिंह, गौरव सोलंकी, प्रत्यक्षा, नीलाक्षी सिंह जैसे कुछ कथाकारों की कुछ कहानियों को देख-पढ़ कर यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या कहानी सिर्फ भाषा-शैली और शिल्प का प्रयोग ही है, वहीं 'तरबूज का बीज' जैसी मजबूत अंतर्वस्तु की कहानी को पढ़ कर यह प्रश्न भी सहज ही खड़ा हो उठता है कि क्या कहानी सिर्फ अंतर्वस्तु है? कहानी की अनावश्यक लंबाई, पाठकों को बाँधने में असमर्थ लचर फैंटेसी, तथ्यों का दुहराव और उससे उत्पन्न कथानक में कदम-दर-कदम दरपेश होता बिखराव जैसे कहानी की धार को कुंद कर के उसमें अंतर्निहित संभावनाओं की हत्या कर देते हैं। सच है कि अंतर्वस्तु से शून्य कला के दम पर अठखेलियाँ करती कहानियाँ किसी काम की नहीं होतीं, लेकिन बिना अपेक्षित कला कौशल के मजबूत से मजबूत अंतर्वस्तु की कहानी भी कोई दूरगामी प्रभाव नहीं छोड़ पाती'।[19]

कहानी अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है और समय के साथ यह विधा और मजबूत होती आई है। स्वतंत्रता के बाद की कहानी जहां अपनी भाषाई तरलता, यथार्थपरक विषय और सम्प्रेषणीयता के कारण कहानियों ने आमजन तक अपने पैठ को मजबूत किया तो कहानी को समय के साथ कई प्रयोगों के साथ गुजरना पड़ा है। कहानियों के ऊपर कई तरह के सामाजिक आंदोलनों की भी गहरी छाप पडी है। विभिन्न आंदोलनों ने कहानियों को जीवन के और नजदीक ले आने का काम किया और कहानियाँ कुलीन विषयों से निकलकर खेत-खलिहानों का सफर करने लगी। समय के साथ कहानियाँ अपने आसपास बिखरे घटनाक्रमों पर आधारित होने लगीं, जिससे कहानियों में जीवंतता आई और उन्हें व्यापक स्थान भी मिला। विजयकांत की कहानी 'इंद्रजाल' ऐसी ही कहानी है। इस कहानी के संदर्भ में आलोचक बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं.. 'यह एक अर्थ में किसान आंदोलन की कहानी है, तो दूसरे अर्थ में दलित-सवर्ण संघर्ष की। जमींदार एक तरफ है दूसरी तरफ मुसहर जाति के लोग'[20] विजयकांत जैसे कथाकार गांव के सच को अपनी कहानियों में दर्ज करने को प्राथमिकता देते हैं। भारतीय समाज में जो विषमता जाति के आधार पर विद्यमान है, वह किस तरह अपने साथ रहने वाले गरीब-मज़लूम लोगों की ज़मीनों को धोखाधड़ी के साथ अपने नाम करवा लेता है और सरकारी लाभ को भूमिहीन ग्रामीणों के नाम से हासिल कर उस पर कब्जा कर लेता है,

उसके खिलाफ भूमिहीन महिलाओं के विद्रोह की कहानी है 'इंद्रजाल'। 'इंद्रजाल' जैसी कहानियों को लेकर आलोचक देवेन्द्र चौबे ने तर्कसंगत विचार किया है कि 'वास्तव में, समकालीन कहानी का यह दौर कथा की भाषा, शिल्प, कहने के समय, कथा के चुनने के साथ-साथ उसे और अधिक यथार्थ बनाने का दौर है। इस दौर के कहानीकारों ने समकालीन जीवन और उसमें सामने घटित हो रहे इतिहास एवं निर्मित हो रही घटनाओं को वृहत्तर समाज के साथ जोड़ते हुए उसको सामाजिक स्तर पर विस्तार दिया है। इसीलिए इस दौर की कहानियाँ, सामाजिक समुदायों को अपनी कहानियाँ लगती है चाहे वह दलित हो या स्त्री; कोई आम आदमी हो या मध्यवर्गीय जिंदगी की गहमा-गहमी में खोया गतिशील जन - इधर के कहानीकारों ने अपने अनुभवों और विचारों के साथ उसे जोड़कर इतना अधिक संजीदा बना दिया है कि एक स्तर पर ये कहानियाँ मुक्तिधर्मी चेतना का आख्यान भी लगती है। यही कारण है कि ये कहानियाँ आज के लोगों को समाज और जीवन के बारे में सोचने की प्रेरणा देती है। इन कहानियों को पढ़ते हुए कई बार यह भी लगता है कि सर्वहारा मनुष्य जब टूटता है तो उसका भाग्य और उसके असहाय होने का यथार्थ बोध, भय एवं सबकुछ टूट जाने की दशा में अजनबी होने का निरीह एहसास उसे कही का नहीं छोड़ता है; फिर भी इस आम आदमी की रीढ़ ऐसी की झुकने के बाद भी बार-बार तन जाती है-- जैसे, कुछ हुआ ही नहीं हो। और साथ ही यह एहसास कि कहीं कुछ है, जो इस दौर की कहानियों को एक नया तेवर एवं मिजाज देकर उसे महत्वपूर्ण बना देता हैं'।[21] 'इंद्रजाल' कहानी के अंत में जब मुसहरी की औरतों को संगठित करते हुये रघु मुसहर की माई के नेतृत्व में मोर्चा लेती है तो जमींदार के बखार से अनाज उठवा लिया जाता है और भविष्य के लिए उन्हे चेतवानी भी दी जाती है, 'अब जो चाल चली तो हवेली चढ़ेगी मुसहरनी। जात-पट आबरू, औकाद सब न डाह दिया तो कहना'। थूकती, लतियाती और खरोंचे मारती वे चेत गुंजाते लौटीं, 'फिर थूथन न घुमाना हमारी भूईंया की ओर। जो घूमैयो तो बुझ रखियों कि, दो दाना न पाएगा अपने सैकड़न बीघा से, कतरा जाएगा, राती-राती कतरा जाएगा तेरा चप्पा-चप्पा। परती-परांट, शमसानी खलिहान पर राज करियों मिसिर महराज'।[22]

स्पष्ट है कि यह सर्वहारा कि विजय है जो 80 दशक के पूर्व की कहानियों में नहीं दिखाई देगा। भारतीय समाज की संरचना में जो विकास की प्रक्रिया है, उसमें कई तरह की असमानताएँ, विसंगतियाँ मौजूद है। इन विषमताओं और विसंगतियों की वजह से समाज में टकराहट और संघर्ष होता रहता है। भले ही वह समाज का कोई भी तबका हो। दलित या स्त्री ही नहीं बल्कि दूसरे सामाजिक समूह भी साम्प्रदायिक वैमनस्य अथवा आर्थिक उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में हाशिये पर जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर हैं। 'कई बार यह विवशता सार्वजनिक चरित्रों के अंदर निर्मित हो रहे 'भय' में तब्दील हो जाती है; परन्तु कई बार जब वही चरित्र आन्दोलनों अथवा सामाजिक दायित्वों से जुड़ता है तब उसके अन्दर एक विचित्र प्रकार के 'साहस' एवं 'उत्साह' के भाव का संचार होता है। यह साहस और उत्साह उन चरित्रों के अंदर एक भिन्न प्रकार की 'चेतना' का विकास करता है और उसके जीवन को एक ऐसी स्थिति में लाकर पटक देता है कि वह दुनिया के किसी भी प्रकार के शोषण, दमन और भय के खिलाफ संघर्ष के लिए अपने को तैयार कर लेते हैं।'[23] यह विचार इस संदर्भ में सही हैं कि 1990 के बाद कहानी में आम आदमी, सामाजिक समुदायों और समूहों की उत्पति की जो अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं, वे इस दौर की कहानियों की प्रवृति पर कुछ अलग ढंग से विचार करने के लिए दबाव डालती है। चाहे वह स्त्री समाज हो या दलित आदिवासी हो अथवा हाशिये का अन्य समाज। समकालीन कहानीकारों ने इन समाजों पर कहानियाँ लिखने के बहाने समकालीन समय और इतिहास के अनगिनत सवालों से टकराने का साहस किया है तथा पूँजीवादी सभ्यता में 'वस्तु' बनते जा रहे 'मनुष्य' की विडंबनापूर्ण जिंदगी के यथार्थ को रचते हुए लोकतंत्रीय व्यवस्था में उनकी मुक्ति के रास्ते तलाशे हैं।[24] सुभाषचंद्र कुशवाहा की कहानी 'तिलेसरी' ऐसी ही कहानी है जो गाँव के जीवन को समग्रता में व्यक्त करती है। इस कहानी ने 1990 के बाद की कहानियों में एक विशिष्ट कहानी के रूप में हमारे सामने आती है। खेती-किसानी के बर्बाद होने के बाद गाँव में भी रोजगार के संकट बढ़े हैं। उपभोक्तावादी उच्च तकनीकें गांवों में ट्रैक्टर, अत्याधुनिक हल वगैरह लेकर आए लेकिन इस तकनीक ने कृषि से जुड़े न केवल

परंपरागत साधनों को नष्ट किए बल्कि उसके साथ-साथ उन कुटीर उद्योग धंधों को भी नष्ट कर दिया जो भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रीढ़ थे। कहानी की पात्र 'तिलेसरी' के ही गाँव में कृषि आधारित उद्योग जैसे चीनी उद्योग मिल था, लेकिन समय के साथ वह चीनी मिल बंद हो गया। परिणामस्वरूप आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों में जो मिल पर आश्रित थे वहाँ बड़े पैमाने पर बेरोजगारी फैल गई, जिसका परिणाम हुआ कि कृषि-मजदूर, भूमिहीन मजदूर और पंपरागत व्यवसाय से जुड़े लोगों की हालत खस्ता हो गई। हिन्दी साहित्य में आलोचना की धारणाओं के रूप में उपन्यासों की अंतर्वस्तु और सामाजिक यथार्थ को ही कसौटी मान लिया गया है, जबकि इस संदर्भ में होना यह चाहिए कि आलोचना की धारणाएँ, कथा साहित्य और सामाजिक यथार्थ के बीच मौजूद कथ्य की समझ से पैदा होती। भारतीय कथा-साहित्य को समझने की जो कोशिश है वह हमें 'आदर्शौन्मुख यथार्थवाद' की ओर ले जाती है और इस समझदारी की ही कहानी है 'बीज बैंक'। अनीता भारती की यह कहानी पूंजीवाद के मकड़जाल को पकड़ती तो है, लेकिन उसके तोड़ के क्रम में वह सरलीकृत हो जाती है। आज जब सामाजिक विकल्प के रूप में कथा साहित्य को देखा जा रहा है तब जरूरी है कि उस गुंजाइश को कहानी के जरिए पैदा किया जाए लेकिन कहानी सुधारवादी मोड तक जा खत्म हो जाती है और कहानी अपने 'ट्रीटमेंट' में फैशननुमा छाप को छोड़ जाती है।

पूंजी अपने यथार्थ में समाज को दो हिस्से में बाँट देता है .. 'पूंजी अपने फैलाव के साथ, मानव समाज को दो हिस्सों में बाँटते हैं- निजी और सार्वजनिक में। सामन्तीय दुनिया में निजी के लिए कोई जगह नहीं होती, इसलिए वहाँ परिवार के तमाम सदस्य, बाकी तमाम चीजों की तरह, मुखिया की सम्पति हो जाते हैं। सभी के पास जीने के लिए, कोई निजी जगह या कोना हो- इसकी संभावना, पूंजी के आने से पायी आज़ादी के द्वारा निकलती है'।[25] वर्तमान दौर के कथा साहित्य में पूंजी के इस विकास प्रक्रिया को समझने की जरूरत है कि कैसे वह विकासशील देशों के नागरिकों के लिए काल का ग्रास बन चुका है, केवल कुछेक उपन्यास, कहानी से इस जरूरत को नहीं पूरा किया जा सकता है।

'डूब' उपन्यास की चर्चा करते हुये आलोचक सुधीश पचौरी इसको कथा-साहित्य में 'भूमि पुत्र की वापसी' की संज्ञा से नवाजते हैं। वे लिखते हैं कि 'यह उपन्यास मूलतः भूमिपुत्र की वापसी करता है। डूब में डूबने वालों के वर्चस्व की वापसी। इस क्रम में विकास के समूचे सिद्धांत उखड़ जाते हैं, नहीं उखड़ता है तो लेखक का यह विश्वास कि वह विकास जो लोगों के भूमि से जुड़े सहज अस्तित्व को नष्ट करे, विकास तो नहीं हो सकता, विनाश अवश्य हो सकता है'।[26] सुधीश पचौरी 'भूमि पुत्र की वापसी' के संबंध में 'माते' के चरित्र को सामने लाते है और लिखते हैं 'माते के चरित्र में कई जगह स्वयं वीरेंद्र जैन मौजूद हैं। माते में 'टिकैत', माते में में चाँदी प्रसाद भट्ट, मेधा पाटेकर मौजूद है। वह पहला भूमि पुत्र है, जो हिन्दी जाति के बीच लौटा है। वह बहुत कच्चा-कच्चा है, कई जगह वह अधूरा है और इकहरा है, किन्तु वह जितना भी है, एक नया तत्व है, एक नए उत्तर यथार्थवाद का तत्व'।[27] भारतीय समाज अपने यथार्थ की जटिलताओं के साथ कई युगबोध भावों के एक साथ जीवन को जीता है। पश्चिम के आधुनिकीकरण और पूंजीवादी विकास के ढांचे पर आश्रित विकास-प्रणाली ने देश के अंदर कई तरह की खामियों को पैदा किया है। उन्हीं खामियों के खिलाफ लड़ता हुआ, सवाल खड़ा करता हुआ जो चरित्र 'डूब' उपन्यास में निर्मित होता है, वही चरित्र माते का है। लेकिन 'भूमि पुत्र की वापसी' जैसे भारी-भरकम घोषणा के साथ यह पड़ताल करना जरूरी है कि यह 'भूमि पुत्र' है कौन? 1990 के बाद के कथा साहित्य को देखा जाये तो अपने स्वाभाविक विकास की गति में उसके पास 'माते' जैसे पात्र हैं या फिर 'माते' से आगे के पात्रों का विकास भी हुआ है। सत्यनारायन पटेल की कहानी 'लाल छींट वाली लुगडी का सपना' का पात्र 'डूंगा' संभवतः 'माते' से आगे का विकसित पात्र है। 'माते' के पात्र परिकल्पना में 1947 के बाद से 1990 तक के भारत के संघर्षशील तबकों का पूरा समुच्चय पहचान के बतौर सामने आता है, लेकिन 'डूंगा' नव-उदारवाद के दौर में राज्य-पोषित कॉर्पोरेट से संघर्ष करता हुआ पात्र है जो अपनी ज़मीन के बल पर ही उनसे लोहा लेता है। 'डूब' जैसे उपन्यास अपने कथ्य और पात्र, चरित्र-चित्रण के जरिये विकास के साथ चिपके हुये

विनाश के तत्वों को उजागर करते हैं, वहीं 'डूंगा' की कहानी के जरिये कहानीकार एक नए ढंग का पात्र सामने लाता है जो अपने जीवन के जद्दोजहद से विजय की ओर बढ़ता है और इस प्रक्रिया में कहानीकार पूंजी के उस चरित्र का उदघाटन करता है कि कैसे वह 'डूंगा' के जिद के आगे अपनी ही मौत मरता है, जो इस दौर की सबसे यथार्थवादी घटना है- अमेरिका से लेकर भारत तक। 1990 के बाद के पात्रों के विकास में हम देखते हैं कि एक नए तरह का विमर्श सामने आता है और साहित्य पहले की तुलना में अधिक लोकतान्त्रिक और समृद्ध होता हुआ नजर आता है। निम्न वर्ग, दलित, आदिवासी, स्त्री के प्रश्न बहुतायत में सामने आ रहे हैं। उन विमर्श के सवालों के साथ पात्र और अधिक यथार्थवादी नजर आते हैं। 2015 तक आते-आते भूमि पुत्र का सवाल बदल गया है। 1990 या उससे पहले वह विकास के साथ विनाश के तत्वों की पहचान कर रहा था 1990 के बाद अमीरी को बढ़ावा देने वाली सामाजिक-आर्थिक संस्कृति में खुद को अयोग्य देख भूमि पुत्र आत्महत्या करने की ओर मूड़ गया है या यों कहाँ जाए कि जबरन मोड दिया गया है।

5.2 भाषा का राजनीतिक संदर्भ

महेश कटारे की कहानी से... 'जैसे एक शब्द आजकल किसी के भी सिर पर लाद दिया जाता है- सोशल जस्टिस...सामाजिक न्याय... अब इसका मतलब किसी के लिए अवसर पाना है, जैसे तू। यादव के लिए इसका अर्थ कुर्सी पाना है और मुझे लगता है, जैसे यह बेघर करने का षड्यंत्र हो'।[28] कहानीकार ने एक शब्द 'सामाजिक न्याय' के जरिये 1990 के बाद के समय में विकसित राजनीति को साधने की कोशिश की है। पिछड़ेपन और उच्च जातियों के शोषण, दमन से निजात पाने के लिए सामाजिक रूप से पिछड़े हुये समाज को मुख्य धारा में जोड़ने के लिए राजनीतिक और सामाजिक रूप से भारतीय समाज में 'आरक्षण' की व्यवस्था को लागू किया गया। समय के चक्र के आगे बढ़ते रहने के साथ हम उपरोक्त कथनों के जरिये स्पष्ठ देख सकते हैं कि 'सामाजिक न्याय' ने पिछड़ों के 'पिछड़ा बोध' और अगड़े के 'अगड़े बोध' को सामाजिक-राजनीतिक रूप से कम करने के बजाए उसको बढ़ाने का कार्य किया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि

आरक्षण विफल हो गया है, बल्कि उसने समाज में समानता लाने का कार्य भी किया है, जो हर तरह के अवसरों से महरूम रह जाते थे उनको आगे लाने का कार्य किया है। परंतु समानता के प्रश्न के साथ सामंती, पुरातनपंथी धारणा पर चोट करने में उसकी सफलता कम है जो ऊपरी स्तर पर केवल राजनीतिक सत्ता तक रह गई है। हम देखते हैं कि दुनिया में जितने भी बदलाव हुये है वह सभी राजनीतिक बदलाव हैं। 1990 के बाद के कथा साहित्य में सबसे अधिक प्रभावकारी तत्व राजनीति रही है, जिसने विषय के साथ कथ्य के प्रसंग को भी बदला जिसे भाषा के राजनीतिक संदर्भों के जरिये रचनाओं में सामने लाया गया। 'सामाजिक न्याय' राजनीतिक सवाल है, लेकिन वह 'गंगादास' के लिए अबूझ पहेली है, इस शब्द या इसके सरोकार से 'गंगादास' का कभी पाला नहीं पड़ा। 'गंगादास' या उसके जैसे दूसरे अन्य लोगों तक इस शब्द के निहितार्थ नहीं पहुँच पाये, लेकिन उसी गाँव के प्रधान 'यादव जी' के पास बहुत कुछ 'सामाजिक न्याय' के जरिये हीं पहुंचा। यह असंतुलित सामाजिक-राजनीतिक विडम्बना आधारित 'सामाजिक न्याय' की सच्चाई है, जिसे महेश कटारे जैसे रचनाकार सामने लेकर आ रहे हैं।

यहाँ प्रश्न शब्दों के चुनाव का नहीं है बल्कि उन शब्दों के जरिये भाषा के राजनीतिक संदर्भ को देखने की जरूरत है। 1990 के बाद राजनीति की भाषा में बड़ा बदलाव आया है। मण्डल-कमंडल करने वाले लोग भाषा के माध्यम से राजनीतिक मतभेद को उत्पन्न कर उसका राजनीतिक लाभ उठाते हैं। सामान्यतः भाषा की राजनीति सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा से संचालित राजनीतिज्ञों द्वारा की जाती है, नेता चाहे किसी अन्य भाषा में आम तौर पर भले ही बात करते हों, लेकिन जनता के सामने उनकी भाषा में बात करते हैं। इस प्रयास के जरिये वे जनता को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वे उनके ही नेता हैं, उन्हीं के समाज के नेता है। इस तरह का कार्य नेता अपना रिश्ता जनता से जोड़ने के लिए करते हैं। भाषा के राजनीतिक संदर्भों की तलाश करते हुये सामाजिक चिंतक अनिल चमड़िया लिखते हैं.... भारतीय संदर्भ में भाषा के प्रश्न को दो कालों में विभाजित कर देखा जाना चाहिए– ब्रिटिश शासन्काल और स्वतंत्र भारत। भारत की स्वतंत्रता के बाद सत्ताधारियों पर दबाव था कि शासकीय कार्य भारतीय भाषाओं में

संपन्न किये जायें और इन भाषाओं के माध्यम से ही पठन-पाठन की व्यवस्था हो। यानी सत्ता का ढांचा तो अंग्रेजी-परस्त था, लेकिन नेतृत्व पर दबाव था कि वह भारतीय भाषाओं में सुने और बोले और यह जान ले कि देर-सबेर उसे अंग्रेजी को त्यागना होगा। राजनीतिक परिवर्तन का सार इसमें निहित होता है कि सत्ता का रूपांतरण, जन के अनुरूप हो सके। सत्ता चाहती है कि नेतृत्व को अपने रूप में ढाल ले। राजनीति के इस द्वन्द्व को समझना महत्वपूर्ण है। सत्ता के जन के अनुरूप रूपांतरण में यह भी निहित है कि शासक वर्ग, लोगों की चेतना की भाषा को समझने के लिए मजबूर हो। इसीलिए अगर किसी भाषा को चुना जाता है तो वह उसकी लिपि के कारण नहीं होता बल्कि वह सत्ता के राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक आधार से जुड़ा होता है'।[29] भाषा के राजनीतिक संदर्भ को समझने के लिए प्रथमतः यह जानना जरूरी है कि भाषा स्वयं में एक सामाजिक समूह-संबंधों के उत्पादन का साधन हैं और उसका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विश्लेषण भी है। हम जानते हैं कि भाषा के प्रश्न को समस्या के रूप में उलझाना भारतीय समाज में कई तरह की राजनीतिक जरूरतों को पूरा करता है। देश की वंचित आवाम के सामने यह चुनौती हमेशा से रही है कि वह अपनी भाषाई ताकत से अंजान रही है। आज़ादी के बाद भी उनके प्रतिनिधि उनकी भाषा के नहीं हो पाये हैं। वर्तमान में भी हालात यह हैं कि अंग्रेजी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सत्ता की भाषा और लोकतंत्र की जरूरत बनी हुई है। यहाँ प्रश्न है कि आखिर ऐसे क्या कारण हैं कि 1990 के बाद नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से शासक वर्ग ने अंग्रेजी का ज्ञान अर्जित करने के प्रति लोगों में प्रतिस्पर्धा तेज करने पर बल दिया? स्पष्ट है कि ऐसा करके शासक वर्ग ने वंचित वर्ग की भाषा और उसकी चेतना से खुद को अलग कर लिया। जिसका परिणाम हुआ कि जनता से जुड़ी नीतिगत बातों को अंग्रेजी में ही करने की आदत को बढ़ावा दिया गया और इससे नीतिगत मसलों में उनकी हिस्सेदारी नहीं होने दी गयी। सत्ता और शासक वर्ग, देश की एक भाषा बनाने की राजनीतिक प्रक्रिया को बाधित करने के लिए तत्पर था। प्रारम्भ से ही एक भाषा के निर्माण को रोकने और शासक वर्ग की भाषा को बनाए रखने की राजनीति विद्यमान रही है। पहले हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ बनाना, उसके भारतीयकरण की प्रक्रिया को बाधित करना था। अब भूमंडलीकरण के बाद, भाषा को अंग्रेजीनिष्ठ बनाने का राजनीतिक कार्यक्रम चलाया जा

रहा है। हिन्दी का मराठी, तेलुगू, गुजराती, पंजाबी, बांग्ला, कश्मीरी आदि से शब्द उधार लेकर जो विस्तार होना था, वह व्यापक स्तर पर नहीं हुआ। वर्तमान दौर के कथा साहित्य में संजीव ने अपने उपन्यास 'फांस' के माध्यम से इस कमी को पूरा करने का प्रयास किया है। वह शासक वर्ग की ऐसी भाषा के रूप में विकसित की गई, जिसे विस्थापित करने का पहले से ही फैसला किया जा चुका था। यह हमेशा से दिखाई पड़ता है कि शासक वर्ग में भाषा को लेकर सहमति थी, जो कि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अभिव्यक्त हुई और आम आवाम तक भाषा अपनी पहुँच नहीं बना पाई है। किसान आत्महत्या के लिए चर्चित महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र के गाँव 'बनगांव' की कहानी कहते हुये संजीव मराठी शब्दों, पात्रों और उसकी स्थानीयता से परिचित कराते चलते हैं। किसान बदहाली के लिए चर्चित विदर्भ के एक विशेष ग्रामीण अंचल के विराट फ़लक को बहुस्तरीय कथ्य के साथ एक सुगठित उपन्यास बनता दिखाई पड़ता है। जो महत्वपूर्ण तथ्य है वह है कि उपन्यास में जिस अंचल को लेकर केन्द्रित है उसकी भाषा हिन्दी नहीं है और रचनाकार की सफलता यहाँ अधिक है कि वे वहाँ के पात्रों की भाषा शैली और व्यवहार को पूरी सजीवता और जीवंतता के साथ हिन्दी के पाठकों के समाने ले लेकर आये हैं।

समकालीन कथा-साहित्य के रचना विधान को देखें तो साफ पता चलता है कि कहानीकारों ने अपने वर्तमान सम-सामयिक जिंदगी के यथार्थ का चित्रण करते हुए कथा-साहित्य की रचना का जो विधान किया है उसमें उनकी भाषा और वाक्य रचना, जिंदगी के यथार्थ के साथ-साथ अभिव्यक्त भाषा सामयिक राजनीतिक संदर्भों को भी व्यक्त करती है। रचना में वैचारिकता का बोझ न आने पाएँ साथ ही कोशिश भी यही है की वहां बहस-विमर्श का आग्रह भी है, लेकिन इस तरह से कि वह रचना विधान का अहम हिस्सा लगे। हम देखते हैं कि चुनी गई रचनाओं में रचनाकार सामाजिक-राजनीतिक चेतना के जरिये विचार को रचनाओं में स्थान देते है। 'फांस', 'डूब', 'कालीचाट', 'हलफनामे', 'आखिरी छलांग' आदि रचनाएँ ऐसी ही रचनाएँ हैं।

जरूरी है कि राजनीतिक विचार भी भाषा-चित्रण के माध्यम से कथ्य में कुछ ऐसे आये जैसे की उस पात्र की जिंदगी का अहम हिस्सा हो और अगर विचार सही ढंग से

कथ्य में आरोपित नहीं है तो कहानी किसी और दौर की लगेगी। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि रचनाकारों ने इस दौर की कहानियों में सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध का जो शास्त्र-विधान सृजित किया है, वह भाषा और संरचना के स्तर पर वर्तमान समय के समाज का हिस्सा मालूम पड़ती है। समकलीन कथा साहित्य में भाषा और कला जैसे प्रश्न को संदर्भ में रखते हुये आलोचक देवेन्द्र चौबे लिखते हैं कि.... 'जिंदगी की भाषा और जीवन जीने की कला का जितना यथार्थ समन्वय इस दौर के कहानीकारों ने किया है वह नयी और प्रेमचंद युग की कहानियों में कम दिखलाई पड़ता है। यहां सामाजिक आंदोलनों से प्रभावित जो समाज और उसकी संवेदना है, वह सामाजिक परिवर्तन एवं विकास की उन प्रक्रियाओं की तरफ संकेत करता है जिनसे रचना की दुनिया का विस्तार होता है। हाशिये के समाज की पहचान बनती है। उदाहरण के लिए, इस दौर के कहानीकारों ने जिंदगी के यथार्थ का बयान करने लिए जिस भाषा को रचा है उसे देखकर पता चलता है कि भाषा केवल भावों और विचारों को ही अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि वह पाठकों को समकालीन समय के दबाव, भय और उसके निहितार्थ का बोध भी कराती है। उनमें इतने तरह के संकेत, संदेश एवं प्रक्रियाएं है कि पाठक को जब इस बात का अहसास होता है तब वह चकित हो उठता है कि क्या भाषा और उसमें आये संकेत जीवन के यथार्थ का इस हद तक चित्र उपस्थित करते हैं कि वह जीवन को समझने का जरिया बन जाता है'।[30] 1990 के बाद के कथा-साहित्य में समाज को बदलने वाले प्रवृतियों को उनके राजनीतिक निहितार्थों के जरिये उपन्यास, कहानी में रचनाकारों ने संप्रेषित किया है। बाज़ार, टीवी, शहर, सेंसेक्स, एनजीओ आदि शब्दों के माध्यम से बीसवीं सदी के अंतिम दशक की पूरी विकास प्रक्रिया को सिलसिलेवार ढंग से कथा-साहित्य में समेटा गया है। 'आदमी अपनी-अपनी घरवाली में जुही और माधुरी ढूंढते। उम्र की दहलीज को पार करती लड़कियां अपने गाँव के लड़कों में अमीर खान तलाशने लगी थी। नए-नए तरह के पहनावे टी. वी. से बाहर निकालकर हाट-बाज़ार और गाँव में पहुँचने लगे थे। अब शाम को चौपाल नहीं जुटती थी। लोग घंटों टी. वी. के सामने बैठे रहते। लोगों के दुख-दर्द को साझा करने और मनोरन्जन के चौपाल जैसे मंच धीरे-धीरे समाप्त हो रहे थे'।[31]

टी. वी. आमतौर पर मनोरंजन का साधन है लेकिन उसके अपने राजनीतिक अर्थ भी है। मनोरंजन के जो पहले समूहिक ढंग थे अब वह नष्ट हो रहे है जिसके साथ ग्रामीण संस्कृति भी विलुप्त हो रही है, सामूहिकता खत्म हो रही है और पूंजी आधारित निजता का बढ़ाव हो रहा है। महेश कटारे की कहानी 'कूकाल में हंटर' में टी. वी. का जिक्र आता है जिसे समझने की जरूरत है.... "अरे भाई, तुम लोगों ने सुनी खबर? टी. वी। पै आ रही है" नरेश नाई दौड़ता-हाँफता जाटों के अलाव पर पहुंचा।

का लाली की खबर है?"

"नईं....."

"तो सूखा-वुखा की होयगी"। लोगों ने उधर से दिलचस्पी हट गयी।

"अरे नईं भैया, खास खबर है"। बात को रबड़ की भांति टंटे नरेश पर मंगलसिंह कुर्रा उठे।

"अरे दद्दा....सुनो तो। ...नंबर एक, इंडिया की टीम क्रिकेट जीत गयी। नबर दो, शिल्पा शेट्टी हंस रही है। और नबर तीन, कोउ शेयर है, जो बहुत ऊंचे चढ़िए गया है'।

इंडिया की खुशी दूसरे अलाव को बताने के लिए नरेश नाई आगे बढ़ गया'।[32]

प्रश्न विचारणीय है कि नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद शासक वर्ग ने भाषा की समझ को भी बदलने का कार्य किया। अंग्रेजी ज्ञान, संस्कृति अर्जित कर आधुनिक दिखने की होड ने समाज में एक-दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा को तेज कर दिया। नव-उदारवादी संस्कृति ने ऐसा करके वंचित वर्ग की भाषा और उसकी चेतना से खुद को मुक्त कर लिया। जिसका परिणाम हुआ कि जनता से जुड़ी नीतिगत बातों को अंग्रेजी में ही करने की आदत को बढ़ावा दिया गया और इससे नीतिगत मसलों में उनकी हिस्सेदारी नहीं होने दी गयी या उसे गायब कर दिया गया, अनीता भारती की कहानी 'बीज बैंक' और अरुण कुमार असफल की कहानी 'तरबूज के बीज' इस समस्या को सामने

लाने का कार्य करती है। जब फसल को बर्बाद होते देख चंदू ने फांसी लगा ली तो मोहन को लगा कि वह हिम्मत हार रहा है, लेकिन मोहन ने हिम्मत करके सुपर्व बीज कंपनी के दिल्ली स्थित ऑफिस में फोन लगाया.... 'कंपनी के ऑपरेटर ने फोन उठाया। दूसरी तरफ से आवाज सुनाई पड़ी- मैं आपकी क्या सहायता कर सकती हूँ? मोहन ने अपना परिचय देकर रोजर से फोन मिलाने को कहा। कुछ क्षण मधुर संगीत सुनाई देने के बाद फोन पर कुछ दबी हुई धीमी-धीमी आवाजें सुनाई देने लगीं- 'सम मोहन फ्राम सम प्लेस काल्ड कुसिया इज़ देअर फॉर यू ऑन द लाइन, डू यू टॉक टू हिम सर?' डोंट यू नो देट?'- रोजर की आवाज थी। वह डांट खाकर ऑपरेटर दुबारा फोन पर आई और बोली- 'रोजर सर, तीन महीने के लिए अपने देश गए हुये हैं। मोहन की अँग्रेजी कच्ची जरूर थी, पर वह भली-भांति समझ गया कि रोजर को उसके जैसे 'भारतीय गँवारों' से बातचीत करना गंवारा नहीं था। उसके सामने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खेल का पर्दाफाश हो चुका था'।[33] लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। हम देख रहे हैं कि भाषा किस तरह कॉर्पोरेट की राजनीति को आगे बढ़ाने में सहायक भूमिका निभा रही है। स्पष्ट है कि भाषा के प्रश्न का उलझना, शासक वर्ग की कई तरह की राजनीतिक जरूरतों को पूरा करता है। देश की वंचित आवाम के सामने हमेशा से यह चुनौती रही है कि वह अपनी भाषाई ताकत को कैसे प्राप्त करे? आमतौर पर यह देखने में आता है कि लोकतन्त्र में उसके द्वारा चुने हुये उनके प्रतिनिधि अंग्रेजीदां है या उनकी भाषा के इस समझ को सुनिश्चित करना उनका राजनीतिक लक्ष्य कभी नहीं रहा। भारतीय समाज में जन भाषा का लक्ष्य देश के शासकों को अपनी भाषा में संबोधित कर अपनी भाषाई चेतना के स्तर पर उतारने के लिए विभिन्न परिस्थितियां का निर्माण करना होता है, लेकिन समाजिक-राजनीतिक स्तर पर इच्छाशक्ति की कमी ने इसे कभी पूरा नहीं होने दिया। राजनीतिक औजार के रूप में भाषा कभी भी आमजन के बीच अपना स्थान नहीं बना पाई। वर्तमान समय में मौजूदा हालात ये हैं कि स्वतंत्रता के बाद भी, अंग्रेजी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सत्ता की भाषा और लोकतंत्र की जरूरत बनी हुई है, जिसकी बानगी हम 'बीज बैंक' कहानी में मोहन और ऑपरेटर के संवाद के जरिये देख सकते हैं। जहालत के पचास साल की बदहाली को कहने के लिए व्यापक जमीन रखते हैं। पिछले पचास साल भारतीय किसान

और ग्रामीण जन के बारे में काफी कुछ कह जाते हैं। भ्रष्टाचार और कुशिक्षा अधिकतर गांवों के मूल में है। ग्रामीण समस्याओं से नौकरशाही पूरी तरह अपरिचित नजर आती है। भारतीय समाज की जहालत यहाँ के राजनेताओं का प्रिय विषय है। आज़ादी के 45 साल बाद सरकार को लगता है कि भारत के पिछड़ेपन की सबसे बड़ी वजह अशिक्षा है, इसके लिए सरकार ने बड़ी-बड़ी घोषणाओं के साथ यह फरमान निकाल दिया कि गांवों में अब बुनियादी सुविधाओं के साथ साक्षरता के लिए भी कार्य करने की जरूरत है... 'लोगों के पास रोजगार नहीं है....खेती में पेट भरना मुश्किल हो गया है। पीने का पानी नहीं है.... सड़कें नहीं है...स्वास्थ्य सुविधाएं नहीं है... बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा नहीं है और भी ढेरों रोज़मर्रा की समस्याएँ हैं। आखिरकार आज़ादी के सैंतालिस साल बाद भी आम आदमी इन सुविधाओं से वंचित क्यों है?

लोगों को बुनियादी सुविधाएं मुहैया करने के लिए पिछली सरकारों ने औद्योगिक क्रांति, हरित क्रांति, श्वेत क्रांति और फिर गरीबी हटाओ जैसे नारे दिये थे- उनका हश्र क्या हुआ? हालांकि वह जानता था कि शोषण के खिलाफ शिक्षा एक बहुत बड़ा हथियार है। यदि सरकार वास्तव में लोगों के हाथ में यह हथियार देना चाहती है तो इस कार्यक्रम का उद्देश्य लोगों को शिक्षित करना होना चाहिए, न कि सिर्फ साक्षर करना। शिक्षित करने के बजाए सिर्फ चार अक्षर लिखना-पढना सीखा देने से ये समस्याएँ कैसे हल हो जाएंगी? अकेले साक्षारता आंदोलन जैसे नारों से भुखमरी कैसे मिटेगी? यह सब उसकी समझ से परे था?'[34]

जाहिर है कि इस तरह के कथन में राजनीतिक संदर्भ के साथ व्यंगय भी हैं- व्यवस्था और सरकार के प्रति। यह अधिक चुटीला न होकर भी देश-समाज की चिंता से लैस है। आज़ादी के बाद से राजनीति तो ऐसी चीज हो गयी है कि इसकी विसंगतियों ने अंतत: सामान्य आदमी को ही अपना शिकार बनाया हैं। आज के जहालत के पचास साल भारतीय प्रजातंत्र के पिछले पचास सालों की पतनगाथा की ही कहानी है। आज का हिन्दी कथा साहित्य अपने सम-सामयिकी के दबाव से निर्मित मनुष्य और समाज की कलात्मक एवं वैचारिक निर्मिति है। पूंजीवादी उदारीकरण में आज समय तेजी से बदल रहा है, यह बदलाव सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक है। बाजार जीवन का अहम

हिस्सा होता जा रहा है, तब साहित्य और कला की भूमिका और जरूरी हो जाती है। हिन्दी कथा साहित्य अपने समय और समाज की भी पड़ताल करता है। वर्तमान कथा साहित्य को पढना, समझना आज के मानव समाज को समझना है। भले ही वह भाषा हो या कला। दोनों आज की जिंदगी, सामाजिक-राजनीतिक हालात और उसके यथार्थ को समझने में मदद करते है। कथा साहित्य की भाषा और कथ्य की संरचना को देखते हुए साफ पता चलता है कि यह भाषा और संरचना वही नहीं है, जो प्रेमचंद युग की कहानी या नयी कहानी या ग्रामीण विशेष अंचल की भाषा थी।1990 के बाद के कथा साहित्य की भाषा, सम-सामयिक यथार्थवाद से निर्मित भाषा है और भूमंडलीकरण के दौर की जिंदगी के यथार्थ को समझने में मदद करती है। भाषा के इस रचनात्मक उपयोग से वर्तमान दौर का कथा साहित्य भी समृद्ध हुआ है।

वर्तमान समय और समाज में कथा-साहित्य में गाँव के दृश्यों की पड़ताल करना जरूरी है। आखिर इस प्रश्न को टटोलना साहित्य और सामाजिक दृष्टि दोनों से जरूरी है कि प्रेमचंद और रेणु के साहित्य से होते हुये भूमंडलीकरण के दौर में गाँव कहाँ पहुंचा है? क्या बेजुबान लोगों, दबे-कुचले लोगों कि व्यथा कथा को साहित्य अपने पन्नों में दर्ज कर रहा है, और कर रहा है तो उसकी चेतना क्या है? इसकी पड़ताल करने पर जो स्वर सबसे अधिक 'कॉमन' रूप में सुनाई पड़ता है वह है किसान के आत्महत्या की ठंढी चीख। सबसे अधिक चिंता अपने जमीन को लेकर है और किसान कहता है 'ज़मीन जाते ही हम किसान से मजूर हो जाएंगे'।[35] अपनी हरेक व्यथा कथा के साथ किसान मजूर नहीं होना चाहता है। यह व्यवस्था पोषक समाज में वर्गीय सोच का परिचायक हैं, जहां किसान 'मजूर' से अपनी श्रेष्ठता को देख रहा है, तौल रहा है।

चुने हुये सभी उपन्यासों, कहानियों में किसान के व्यथा के दृश्य मौजूद हैं। जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान' में अपनी मिट्टी और गाँव से जुड़े होने की व्यथा को दाहू महतो अपने बेटे को कैसे समझाये की .... झाल जोतते हुये ताज़ी मिट्टी से जो एक

सोंधी खुशबू निकलती है उससे छाती में मानो एक नई संजीवनी मिल जाती है। इसका बयान वह अपने बेटों से कैसे करें?

धान-गेहूं, मकई-मड़ुआ आदि में जब बाली निकल रही होती....सरसों, अरहड, ज्वार जब फुला रहे होते तो इन्हें देखने के सुख की भला क्या कहीं बराबरी हो सकती है? पौधों का अंकुराना... पत्तों का निकलना... धीरे-धीरे इनका बड़ा होना, इन्हे कोड़ना, पटाना, निकाना आदि सभी किसानी धर्म में एक बच्चे को पालने, परवरिश करने जैसी माँ वाली परितृप्ति क्या शहर में दूसरे पेशे में मयस्सर हो सकती है? पौधे जितनी अवस्था से गुजरते हैं वे सब मानो एक करिश्मा होता है... एक कुदरती जादू। विरासत में उन्हे यही पाठ मिला है कि किसानी कोई धंधा नहीं है बल्कि शुद्ध सात्विक सेवा है..'[36]। इस परिदृश्य से किसान के किसानी को करीब से महसूस किया जा सकता है, लेकिन किसान को किसानी को लेकर जो चिंता है उसको भी समझा जा सकता है। इस विरोधाभाषी परिदृश्य में गाँव-घर से विस्थापन का जो दर्द है वह भी अभिव्यक्त हुआ है। भूमंडलीकरण में अपने गाँव-घर से केवल मनुष्य ही नहीं विस्थापित हो रहे है बल्कि वैज्ञानिक-मशीनी यंत्रों से लैस इस युग में पशुधन की भी जरूरत नहीं रही है, इसकी सटीक सफल अभिव्यक्ति कैलाश बनवासी की कहानी 'बाज़ार में रामधन' में 'बैलों' के माध्यम से बखूबी हुई है।

बनाफ़र चंद के उपन्यास 'जमीन' में चमनपुर का परिचय कराते हुये रचनाकार लिखता है... 'चमनपुर- करीब दो हज़ार आबादी वाला यह गाँव बड़ी नहर के किनारे बसा है। पूर्व में एक आहर है। ऊपर से देखने में यह गाँव बहुत सुखी-सम्पन्न और शांत लगता है। लेकिन भीतर-भीतर विद्रोह और नफरत की आग इसमें सुलगती रही है। एक पुरानी कहावत है- 'पुआल से धान का गाँव पहचाना जाता है, 'यह कहावत इस गाँव पर बिलकुल खरी उतरती है'।[37] यहां हम देखे कि यह कैसी और किसकी भाषा है, जो एकदम सपाट और सीधी है। आज जैसी राजनीति दुनिया में हो रही है उसमे बेहद अडचने है लेकिन जो उत्पादन वर्ग है, वह उस राजनीतिक यथार्थ से दुखी है। इस दुख को

जब रचनाकार रचना के जरिए सामने लाता है तो वह लिखता है 'अंदर-अंदर बहुत कुछ सुलग रहा है', यह नकसलबाड़ी के बाद की परिस्थिति है और उसकी अभिव्यक्ति है, क्योंकि यह देखना होगा कि चमनपुर में धान अधिक है लेकिन उस पर पैदा करने वाले का हक नहीं है बल्कि वह अपनी जमीन को गंवा कर खेतिहर मजदूर बन गया है। वस्तुतः 1990 के बाद के किसान आधारित कथा साहित्य में संरचना और भाषा दोनों स्तरों पर पिछले तीन-चार दशकों से समाज और राजनीति में हो रहे उथल-पुथल का बयान दर्ज है, जिसमें किसान की सिसकियाँ निशब्द हो उसकी आत्महत्या के रूप में हमारे सामने पड़ी हुई है।

संदर्भ-

1. मार्कस्वाद और साहि www.anvpublication.org
2. साहित्यलोचन, टेरी ईगल्टन। अनुवादक- वैभव सिंह, पृष्ठ-39
3. अरुण कुमार पांडे का आलेख , www.anvpublication.org
4. कथा, पत्रिका अंक-21, प्रियम अंकित का आलेख, पृ- 23
5. कूकाल में हंटर, पृ-469
6. बाज़ार में रामधन,पृ- 71
7. हंस, अगस्त 2006, नामवर सिंह का कथन, पृष्ठ-207-208
8. कथा-21, पृ-4 , सुधीर सुमन का आलेख
9. सिताब दियारा ब्लॉग स्पॉट, 5 फरवरी 2016
10. कालीचाट, सुनील चतुर्वेदी, पृष्ठ-148
11. संवेद का शिवमूर्ती विशेषांक, पृष्ठ-142
12. वहीं, पृष्ठ-144
13. www.jlsindia.org/?p=545
14. Samalochan.blogspot.in/2015/10/
15. www.jlsindia.org/?p=545
16. आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, पृष्ठ-17
17. संवेद, शिवमूर्ती विशेषांक, पृष्ठ-151
18. unmelodiousness59.rssing.com/chan-3938031
19. वहीं

20. हंस, अगस्त 2006, पृष्ठ-16
21. www.rachnakar.com , देवेन्द्र चौबे का आलेख
22. इंद्रजाल, हंस अगस्त 2006, पृष्ठ-54
23. www.rachnakar.com , देवेन्द्र चौबे का आलेख
24. संवेद, जनवरी 2013, पृष्ठ-60
25. वहीं, पृ- 17
26. वहीं, पृ-157
27. वहीं, पृ- 158
28. कुकाल में हंटर, पृ- 473
29. अनिल चमड़िया का आलेख, फॉरवर्ड प्रैस से
30. www.rachnakar.com, देवेन्द्र चौबे का आलेख
31. कूकाल में हंटर, पृ-485
32. वहीं, पृ-484
33. बीज बैंक, पृ- 493-494
34. कालीचाट, पृ- 38
35. कुकाल में हंटर, पृ-479
36. छोटा किसान, पृ- 75
37. ज़मीन, बनाफर चंद्र, पृ-23

उपसंहार

लोकतांत्रिक दुनिया में सबको समानता पूर्वक जीवन जीने का अधिकार है और आमतौर पर अक्सर यह बताया जाता है कि सामाजिक बराबरी लोकतन्त्र को मजबूती प्रदान करती है। इस सर्व-सामान्य सच्चाई के केंद्र में अगर हम 'किसान' को रखकर देखें तो जो उभरा हुआ चित्र सामने आएगा वह बहुत कष्टकारी दिखलाई पड़ता है। 1990 के उदारीकरण के बाद हम भली-भांति परिचित हो चुके हैं कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने कृषि संबंधी अलग-अलग उत्पादकों को निगल लिया है। हम उस ताकत से भी परिचित हो चुके है जिसके जरिये पूंजीवादी प्रणाली ने उत्पादन और विनिमय के क्षेत्र में घुसपैठ की और अंततः उन्हें पूंजीवादी ढंग में रूपांतरित कर दिया। इस रूपान्तरण को कृषि और किसान के संदर्भ में देखे तो पाते हैं कि बदलाव कि क्रमिक प्रक्रिया के साथ पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने कृषि और किसानी के परंपरागत तौर-तरीकों को पूरी तरह रूपांतरित कर दिया है। यह रूपान्तरण केवल कुछ विशेष क्षेत्रों में न होकर कृषि और किसान के पूरे कौशल को बदल देने में रही है।

कृषि में पूंजी के घुसपैठ की एक लंबी प्रक्रिया है जो औद्योगिक उत्पादन के मामले से भिन्न है, लेकिन अब कृषि को पूरी तरह से नष्ट कर दिया गया तो खेती योग्य जमीने पूंजीवादी प्रणाली में एक नए उद्योग के रूप में जन्मी जिसमें राजनीतिक पार्टियां, कॉर्पोरेट घराने और स्थानीय दलाल वैश्विकरण के नाम पर किसानों से जमीनों को छीनकर बेचने लगे। लेकिन उसके पहले का भी सच है उसको भी जानना जरूरी है। 19वीं सदी के शुरुआत से खेती की जमीन का केवल एक प्रतिशत ही भूस्वामी और उसके प्रबन्धकों के द्वारा संचालित होता था। लेकिन खेती में पूंजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुये खेती और खाद्य तंत्र में अंतर करना जरूरी है। खेती एक भौतिक प्रक्रिया है जिसमें बीज, पशु आहार, उर्वरक और कीटनाशक जैसी लागतों का एक विशेष स्थान है। खेत पर उसकी मिट्टी, श्रम और मशीनरी का इस्तेमाल करके प्राथमिक उत्पाद के रूप 'फसल' में बदल दिया जाता है। खेती में पूंजी के संकेद्रन का न होना, कृषि उत्पादन की भौतिक और वित्तीय दोनों चरित्रों के चलते होता है।

कृषि उत्पादक ऐतिहासिक रूप से दो ऐसी शक्तियों के अधीन रहे हैं जो खेती में पूंजीवादी विकास की राह में खड़े थे। पहला यह कि किसानों के सामने यह विकल्प था

कि वे कृषि उत्पादन की भौतिक प्रक्रिया में क्या पैदा करें, कितना पैदा करें और किन लागतों का प्रयोग करें। ये विकल्प निश्चय ही सीमित थे क्योंकि ज़मीनों पर किसानों का मालिकाना हक न के बराबर था। दूसरा, किसान खुद भी व्यवसायिक रूप से लागत मुहैया करने वालों में से प्रतियोगिता करने में पारंपरिक तौर पर समर्थ थे, लेकिन कृषि में उत्पादन का जोखिम केवल और केवल किसानों को उठाना होता है।

आज खेती-किसानी में परिस्थितियाँ तेज़ी से बदल रही है। पूंजी अपना वर्चस्व नए तरीके से स्थापित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। स्थिति यह है कि फसल का बाज़ार में भाव नहीं है लेकिन बीज, कीटनाशक, खाद कि कंपनियाँ अपना मुनाफा दिन दूना रात चौगुना बढ़ा रही है। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि मोंसेंटो कपास के बीज के विक्रय के 85 प्रतिशत हिस्से का नियंत्रण करती है और इसके पास टर्मिनेटर बीज का भी पेटेंट है। टर्मिनेटर बीज एक ऐसा बीज है जिससे पहली बार खरीद कर उससे फसल उगाया जा सकता है, लेकिन किसान जब उसको अगले साल बोता है तो वह नहीं उगता। अरुण कुमार असफल की कहानी 'तरबूज का बीज' किसानों के साथ घटित इस छल को सूक्ष्म ढंग से सामने लाती है। वैश्वीकरण ने फसल चक्र में भी परिवर्तन ला दिया है, जिसकी वजह से वर्तमान समय में किसान नकदी फसल की ओर ध्यान दे रहे हैं। यह तरीका उन्हें तात्कालिक रूप से लाभ पहुँचा तो जरूर रहा है, लेकिन दीर्घकालिक रूप में वह जमीन की उर्वरा शक्ति को कम कर किसान को ही नुकसान पहुँचा रहा है। प्राकृतिक रूप से असंतुलन पैदा करके बहुत दिन तक फसल का उत्पादन नहीं किया जा सकता। इन सब के बावजूद भारत सरकार कृषि के वैश्वीकरण की तरफ किसानों की हिफाजत किये बिना ही करार कर बैठी। जब इन करार को उरुग्वे दौर में किया जा रहा था तब दिल्ली की सड़कों पर हजारों की संख्या में किसान मजदूर आ कर विरोध प्रदर्शन कर रहे थे, लेकिन उन विरोध प्रदर्शनों के ऊपर पुलिस ने ज़बर्दस्त तरीके से दमन किया। उसके बाद किसानों की समस्या को वैश्विकपूंजी से जोड़ कर देखने की विश्व-दृष्टि को भी धीरे-धीरे अकादमिक और राजनीतिक जगत से बाहर कर दिया गया। इसके बाद किसान की बदहाली को दूर करने के नाम पर 'समावेशी विकास' का नारा गढ़ा गया।

भारत में अगर समावेशी विकास की बात करे तो इस शब्द को आर्थिक उदारीकरण के बाद लोकप्रिय तरीके से प्रचारित किया गया। क्योंकि जब एक तरफ बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में व्यापर करने के नियम को उदार बनाया जा रहा है तथा वैश्विक स्तर पर कृषि को 'विश्व व्यापार संगठन' के अंतर्गत लाया जा रहा है, तब दूसरी तरफ समावेशी विकास की बात भी की जा रही है। भारत के किसानों की आर्थिक और सामाजिक समस्या एक जैसी नहीं है, इसलिए जब सभी किसान को समावेशी विकास की बात की जाए तब भारतीय किसानों की स्थिति का परिचय आवश्यक हो जाता है। भारत में 11 प्रतिशत किसान भूमिहीन हैं और 75 प्रतिशत सीमांत और लघु किसान हैं जिनके पास सिर्फ 35 प्रतिशत जमीन है, जबकि बड़े जोतदारो की संख्या सिर्फ 2 प्रतिशत है लेकिन उनके पास कुल खेतिहर जमीन का 26 प्रतिशत हिस्सा है। विरोधाभास की इस स्थिति में भारतीय खेती अपना गुजर-बसर कर रही है। 1950 के दशक में भारत के जीडीपी में कृषि क्षेत्र का हिस्सा 50 प्रतिशत था, 1991 में जब आर्थिक नीतियाँ लागू की गई थी तो उस समय जीडीपी में कृषि का योगदान 34.9 प्रतिशत था जो अब वर्तमान समय में 13 प्रतिशत के करीब आकार ठहर गया है। यह हालत तब है जब देश की आधी आबादी अभी भी खेती पर ही निर्भर। नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से सेवा क्षेत्र में काफी फैलाव हुआ है जिसकी वजह से आज भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व की चुनिन्दा अर्थव्यवस्था में शामिल किया जा रहा है, लेकिन सेवा क्षेत्र का यह उभार उस अनुपात में सुधार और नागरिक सुविधा के अवसर को मुहैया करने में विफल रहा है।

आज भी भारत की दो-तिहाई आबादी की निर्भरता कृषि क्षेत्र पर है। इस दौरान परिवार बढ़ने के कारण छोटे किसानों की संख्या बढ़ी है लेकिन उनके लिए खेती मुश्किल और नुकसान भरा काम हो गया है और बैंक, साहूकारों से कर्ज़ लेना आम बात हो गई है। एनएसएसओ के 70वें दौर के सर्वेक्षण के मुताबिक देश के कुल 9.02 करोड़ काश्तकार परिवारों में 7.81 करोड़ किसान खेती से इतनी कमाई नहीं कर पाते जिससे वे अपने परिवार का पूरा खर्च उठा सके। दरअसल भारत के कृषि क्षेत्र में खेती का सारा मुनाफा खेती संबंधी कारोबार से जुड़ी कंपनियाँ ले रही है। भारत का मौजूदा विकास मॉडल जिस रास्ते पर फर्राटे से चल रहा है वह लुभावना तो है, लेकिन अपने पूंजीवादी ढंग से वह छोटे और माध्यम किसानों को उजाड़ कर मजदूर बना दे रहा है। भविष्य में अगर

विकास का यही तरीका सरकार ने अख़्तियार किया रहा तो हालत और दयनीय होती जाएगी। क्योंकि बड़ी पूंजी का रुख गांवों और कृषि की तरफ मुड़ेगा तब किसानों को अपनी जमीन बड़े पूंजीवादी कॉर्पोरेट को बेचकर दूसरे सेक्टर में जाने के लिए मजबूर किया जाएगा, तब उनके पास मजदूर बने रहने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचेगा।

हरित क्रांति के और उसके बाद की आधुनिक खेती ने हमारे देश की भूमि की उर्वरा शक्ति को कमजोर किया है और उसके बाद 'तथाकथित' दूसरी हरित क्रांति ने इस प्रक्रिया को और तेज़ किया। फलस्वरूप जो नतीजा आया वह अत्यंत विनाशकारी रूप में सामने आया। कीटनाशक, खाद वगैरह के अत्यधिक प्रयोग से अब केवल भूमि प्रदूषित नहीं हो रही थी बल्कि अब गाँव के गाँव गंभीर बीमारियों के चपेट में आने लगे, पंजाब का मानसा जिला फसल में अत्यधिक कीटनाशक आदि के प्रयोग से स्वास्थ्य के संदर्भ में 'डेंजर जोने' में पाया जाने लगा। यह बहुत चिंता का विषय है कि एक तरफ एक अरब से अधिक की जनसंख्या के लिए ज्यादा से ज्यादा खाद्यान्न की जरूरत है, वही दूसरी ओर ज़मीन अपनी उर्वरा शक्ति खोती जा रही है और उसका नागरिक जीवान में स्वास्थ्य के ऊपर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। भारतीय कृषि शोध संस्थान की हालिया आई रिपोर्ट में इस संबंध में चिंता प्रकट की गई कि, देश के कुल 14 करोड़ हेक्टेयर की उत्पादकता निरंतर कम हो रही है और 84 लाख हेक्टेयर जमीन जल भराव और खारेपन की समस्या से ग्रस्त है।

हमारे राजनीतिक दलों के लिए किसान एक ऐसा मुद्दा है जिसे हर चुनाव में 'कैश क्रॉप' के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। विपक्ष में रहते हुये सभी पार्टियां किसान के पक्ष में आवाज़ उठाती है और किसान की आवाज़ को संसद तक ले जाती है लेकिन जैसे वह सत्ता में आती है तो विकास के उसी रास्ते पर चलती है जहां किसान और खेती की कोई अहमियत नहीं है। सरकारें आती जाती रहेंगी लेकिन मौजूदा अर्थव्यवस्था में किसान अपने वजूद की लड़ाई लड़ने को अभिशप्त है। आंदोलन, रोष, आक्रोश भले ही शांत हो गया हो लेकिन किसानों से बातचीत में, उनसे जुड़ी कहानियों, उपन्यासों में उनका दर्द, पूरे कृषि संकट को लेकर अफसोस व गुस्सा एकसाथ दर्ज है। उनका दुख इस

बात को लेकर और ज्यादा हैं कि सरकार जो कि सबकुछ जानती है और सभी संकट को देख रही है, फिर भी वह अंजान बन कर किसानों के सामने खुद को लाचार खड़ा कर दे रही है।

आज़ादी के सत्तर सालों के बाद भी कृषि की बदहाली दिनों-दिन जारी रही। इन सात दशकों में जितनी भी सरकारें आई सबने किसान को राजनीति का मोहरा बना कर सत्ता को हासिल किया, लेकिन दुर्भाग्य है कि किसान को लेकर कोई स्पष्ट नीति अब तक नहीं दिखाई देती है। जबकि किसान को राजनीति की जगह नीति की दरकार है।

जैसे-जैसे कृषि संकट गहराता जा रहा है वैसे-वैसे देश की बहुसंख्यक ग्रामीण आबादी की आर्थिक-सामाजिक स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। गरीबी, तंगहाली, संसाधन का अभाव और कर्ज़ में डूबा जीवन, इन सबने मिलकर किसान को बुरी तरह घेर रखा है। त्रस्त किसानों और खेतिहर मजदूरों के आत्महत्या की खबर भी सरकार को जगा नहीं पा रही हैं। इसलिए यह समझने की जरूरत है कि किस तरह सोच-समझ कर कृषि नीति में बदलाव किया जा रहा है, जिसके चलते किसान की माली हालत खोखली होती जा रही है और वह खुद ही कृषि और ज़मीन छोडने के लिए मजबूर हो रहा है। कभी ना मिटने वाले मुनाफे की भूख और कड़े प्रतिस्पर्धा के दौर में दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और उनकी सेवक सरकारों को न तो आत्महत्या कर रहे किसान, मजदूर के परिवार की चिंता है न हीं जो किसान अपनी जमीन और रोजगार गँवा रहे है उसके संदर्भ में कोई कारगर योजना भी नजर नहीं आती।

इतिहास का अगर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्य्यन किया जाए तो इतिहास के हर मोड़ पर समस्याओं से बुरी तरह प्रभावित होने के बावजूद किसान अपने देश-भू भाग का चालक शक्ति रहा है। ब्रिटिश शासन् के दो सौ सालों के शासन् के दौरान उनका सबसे बड़ा उद्देश्य भारत की कृषि व्यवस्था को इस प्रकार ढालना रहा है कि यहाँ से अधिक से अधिक कच्चा माल तैयार कर इंग्लैंड स्थित उद्योगों को फलने-फूलने दिया जाये। आज कॉर्पोरेट कंपनियाँ सरकार के साथ समझौते कर इसी औपनिवेशिक व्यापार को आगे बढ़ा रही है और भारतीय किसानों का शोषण कर रही है।

1947 के बाद भी हमारी कृषि पिछड़ी रही जिसके कारण हमारा देश अनाज के लिए अमरीका, इंग्लैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया जैसे देशों का मोहताज रहा। इन देशों से

अनाज प्राप्त करने के एवज में भारत को पी. एल-480 जैसी शर्मनाक और घुटने टेक शर्ते माननी पड़ी। 1960 के दशक में तत्कालीन भारतीय सरकार ने अनाज की कमी को पूरा करने के लिए कृषि क्षेत्र में पूंजीवादी नीतियाँ लागू करने की योजना बनाई और इस योजना को हरित क्रांति नाम दिया गया। इस दौरान कृषि क्षेत्र के लिए ज्यादा फ़ंड मुहैया कराया गया और सब्सिडी दी गई। परिणामस्वरूप अनाज की पैदावार में भारी वृद्धि हुई और देश अनाज के मामले में आत्मनिर्भर हुआ। इससे किसानों की आर्थिक स्थिति भी पहले से बेहतर हुई लेकिन हरित क्रांति के डेढ़ दशक बीतने के साथ ही नई समस्या भी पैदा होने लगी जो इसके लागू करने को लेकर सवाल भी खड़ा करने लगे। सरकारी सहायता, सुविधाओं और सब्सिडियों का बड़ा हिस्सा बड़े भू-स्वामी को ही मिला उसकी पहुँच छोटे और सीमांत किसानों तक नहीं हुई। छोटे किसानों को वक़्त के साथ चलने के क्रम में खेती में ज्यादा पूंजी निवेश करना पड़ा। हरित क्रांति के इस दौर में किसान लहर के सामने मौजूदा मुद्दों के साथ नए मुद्दे भी पैदा होने लगे। ये मुद्दे थे- किसानी जींसों के न्यूनतम समर्थन मूल्य को बढ़ाया जाए। कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश बढ़ाया जाए। कर्ज़ की सुविधाएं बढ़ाई जाए, कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश बढ़ाया जाए, फसल नुकसान होने पर उचित मुआवजा प्रदान किया जाए।

हरित क्रांति के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में महत्वपूर्ण बदलाव आए। भूमिहीन किसान जो पहले मालिक के साथ बतौर सीरी, साझी काम किया करते थे, उनके आपसी रिश्ते में बदलाव आयें है। अब रोजाना, दिहाड़ी के तर्ज़ पर मजदूरी की मांग होने लगी है। इस प्रक्रिया में खेत मजदूर के रूप में एक नया वर्ग भी किसानी में पैदा हुआ, जिनकी संख्या तकरीबन 35 फीसद है। यह भारतीय किसान आंदोलन की एक बड़ी उपलब्धि भी रही है, नहीं तो उसके पहले बंधुआ मजदूरी कराकर बड़े किसान मजदूरी कराया करते थे।

आज भारत के किसान आंदोलन के सामने सबसे बड़ी चुनौती है, भारतीय कृषि के विकास और किसानी के संकट को दूर करने के लिए साम्राज्यवादी संस्थाओं द्वारा कृषि क्षेत्र पर हो रहे चौतरफा हमले को रोकना। बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशन को बड़े पैमाने पर लाखों एकड़ जमीन मुहैया करवाने की प्रक्रिया को रोकना, विश्व व्यापार संगठन जैसी साम्राज्यवादी संस्थाओं में पिछड़े और विकासशील देशों के साथ भारतीय कृषि के हितों

की रक्षा करना और किसानी के दूसरे पक्ष जैसे बीज, खाद, कृषि अनुसंधान में कॉर्पोरेट, साम्राज्यवादी दखल को रोकना।

कृषि सम्बन्धों में बदलाव आ जाने के कारण भूमिहीन किसान अब खेत मजदूर बन चुका है। किसान आंदोलन में खेतिहर मजदूर की मांगों को भी उनके वर्गीय हित के साथ रखने होंगे। क्योंकि पूंजीवादी किसानों के विशेष हितों की रक्षा करने के लिए मालिक किसानों और खेतिहर मजदूरों में फूट डालने की अक्सर कोशिश होती रहती है। ऐसी ताकते किसानों और खेत मजदूरों को एक दूसरे के खिलाफ पेश करती है।

भारत में किसान जीवन और उसकी समस्याओं को लेकर समय-समय पर साहित्य रचे गए और खूब सराहे भी गए। लेकिन आज भारतीय किसान के समक्ष व्यापक चुनौतियाँ हैं जिनसे उसको रोजाना लड़ना पड़ता है। आधुनिक तड़क-भड़क के बीच गाँव की परंपरा भी खेती-किसानी के साथ लुप्त होती जा रहीं है। खेती-किसानी के साथ श्रम-व्यापार की एक पूरी संस्कृति भी साथ चलती है जो किसानी के संकट में पड़ने की वजह से वह भी खत्म होने के कगार पर पहुँच गई है। किसानी से जुड़ी श्रम संस्कृति का लुप्त होते जाने का असर समकालीन साहित्य पर देखा जा सकता है। 'बाज़ार में रामधन', 'तिलेसरी', 'बीज भोजी' आदि कहानियों में यह दर्द को स्पष्ट तौर पर दिखलाई पड़ता है। यों तो किसान की व्यथा कथा को प्रेमचंद के दौर से ही कथाकारों ने मुखर रूप से साहित्य में अभिव्यक्त किया है। जमींदारों से लेकर महाजनों तक के ऋण जाल में आजीवन बंधे रहने से लेकर कभी न लौटने वाले सुख तक की कथा को साहित्य में चित्रित कर सामने लाने का प्रयास वर्तमान दौर के साहित्यकारों ने किया है।

किसान चेतना एक राष्ट्रीय रूपक के बतौर साहित्य में आता रहा है। लेकिन किसान जीवन के ऊपर पूंजीवादी हमलों ने न सिर्फ आर्थिक दूरियों को बढ़ाया बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से भी किसान को देश के बाकी नागरिक समाज से अलग-थलग कर दिया। आने वाले समय में हम कृषि संस्कृति को लेकर गर्व करने की स्थिति में भी नहीं हैं कि भारत एक कृषि प्रधान देश था। 1990 के बाद के कथा साहित्य में भारतीय किसान की समस्याओं का आधुनिक आख्यान प्रस्तुत किया गया है, जिसमें किसान भी नए हैं और उनकी समस्याएँ भी। यह दीगर बात है कि किसान और उनकी समस्याएँ गाँव-घर और समाज हरेक जगह यथावत रूप से वैसी ही सामाजिक संरचना

में मौजूद है जैसी प्रेमचंद के जमाने में थी। हर नए विमर्श और सभ्यता के प्रगतिशील कदमों के बाद भी किसान आत्महत्या हमारे ऊपर प्रश्न के रूप में मँडराते हैं, कि आखिर हमने कैसा समाज रच डाला है जिसमें एक बड़ा समुदाय कमर तोड़ मेहनत के बाद अपनी जान गंवा देता हैं। आज के उपभोक्तावादी संस्कृति, बाजारवाद और गलत सरकारी नीतियों ने किसानों के सामने जो हालात पैदा कर दिये हैं वह आज के तीस वर्ष पहले नहीं थे, किसान की समस्याएँ थी लेकिन आत्महत्या की खबर नहीं आती थी। आज के हालातों में किसान का जिंदा रहना ही एक यक्ष प्रश्न की भांति हो गया है। विकास के जो कदम सरकार और उससे जुड़े संस्थाओं द्वारा उठाए जा रहें है उसने किसान और पूरी ग्रामीण संस्कृति को ही विस्थापित कर दिया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद परंपरागत भारतीय ग्रामीण समाज की प्रकृति में स्वरूपात्मक परिवर्तन देखने को मिलता है। स्वतंत्रता एक आधुनिक मानव-मूल्य चेतना है, इसको हासिल करने के बाद भारतीय ग्रामीण समाज बहुत हद तक सामंती समझ को तोड़ने का कार्य करता है। भारत में कृषि आधारित ग्रामीण समाज बहुत हद तक सामंती मूल्यों को लेकर चलने वाला समाज रहा है। लेकिन अलग-अलग सामाजिक आंदोलनों ने इस सामंती मूल्यों को तोड़ा भी हैं, जिसके फलस्वरूप जो जातियाँ, वर्ग-समुदाय कल तक बेगारी में गाँव के सामंतों, कूलकों के यहाँ कार्य किया करते थे, वह अब पहले की तुलना में बेहद कम हुआ हैं। कृषि आधारित ग्रामीण समाज धीरे-धीरे उद्योग और नौकरी पेशा आधारित समाज की ओर भी बढ़ा है। ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार की अनुपलब्धता ने बेहतर जीवन की तलाश में पिछले 60-70 सालों में भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया को तेज़ किया है। विगत चार दशकों के आंकड़ों को देखे तो पाते है कि नगरों की संख्या और नगर में रहनेवालों की जनसंख्या में अभूतपूर्व बढ़ोतरी हुई है जबकि गाँव कम हुये है। इसके पीछे कारण हैं कि बिजली, पानी, सड़क, शिक्षा और सामुदायिक विकास की मूलभूत सुविधाएं सबसे पहले शहरों में पहुंचाई जा रही हैं और जो सरकार की नीति है वह भी ग्राम-उन्मुख होने के बजाए शहर केन्द्रित है। यही कारण हैं कि समाज, राजनीति तथा साहित्य में धीरे-धीरे नगर केन्द्रित रचनाएँ बढने लगी और किसान और उनके ग्रामीण समाज कि कथाएँ समय के साथ दृष्टि से ओझल होते गए।

नव-उदरवादी नीति के आने के बाद भारतीय गांवों की संरचना में भी बदलाव आया है। हरित क्रांति के बाद आई सूचना क्रांति और उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रसार के केंद्र में शहर के साथ गाँव भी रहीं हैं विशेषकर गाँव की जमीनें। खेती में खासकर छोटे जोत की खेती फायदेमंद अब नहीं रहीं और इस बात को खूब प्रसारित किया जा रहा है, ताकि छोटी जोत के लोग अपनी ज़मीनों को बेच दें, जिन पर कॉर्पोरेट और गाँव के बड़े खेतिहर किसानों की नजर गड़ी हुई है। 'उत्तम खेती मध्यम बान' से चलकर आजीविका हेतु व्यवसाय का अर्थ अब बदल गया है। बहुसंख्यक लोगों को ऐसा व्यवसाय आकर्षित कर रहा है जिसमें श्रम कम हों और मुनाफा ज्यादा। कम समय में समृद्ध होने की लालसा शहर और ग्रामीण समाज दोनों की चाहत है। यही कारण हैं कि कृषि कार्य, जिसमें धैर्य की जरूरत होती है वह अब खत्म हो रही है। क्योंकि कृषि से अब कोई समृद्ध नहीं हो रहा है। भूमिहीनों का नगरों की ओर पलायन चार दशक पुराना फेनोमिना है जो आज भी बदस्तूर जारी है।

किसानों के आत्महत्या, पलायन, और विस्थापन के जितने भी मामले हैं वह सब केवल आर्थिक नहीं हैं बल्कि वह उतने ही सामाजिक-संस्कृतिक भी हैं। आज किसानों के समक्ष जो संकट हैं वह पूंजीवादी समझ के द्वारा पैदा किया हुआ है, जिसमें प्रमुख है किसानों के प्रति धारणा। अब यह चारों ओर प्रचारित किया जा रहा हैं कि खेती घाटे का सौदा हैं लेकिन वहीं जब रिलायन्स कंपनी खेती के लिए जमीन लेकर खेती करती है तो उसको मुनाफा होता है। अब यह सोचना पड़ेगा कि अगर खेती सचमुच घाटे का सौदा है तो फिर बड़ी कॉर्पोरेट कंपनियाँ आखिर खेती के बीज से लेकर उसके फसल तक इतनी रुचि क्यों ले रहीं है, इसका अर्थ है कि अगर किसान को भी समुचित लाभ खेती के लिए दिया जाए तो वह भी खेती के प्रति बनी हुई धारणा को तोड़ उसको लाभ में बदल सकता है। लेकिन जब सरकार की नीति ही इस मामले में अस्पष्ट हो तो वह कहाँ से हो पाएगा। किसानों के यहाँ समस्या आत्महत्या की नहीं किसानी की है, अगर किसान की किसानी पटरी पर आ जाए तो वह आत्महत्या भी नहीं करेगा। क्योंकि किसान की आत्महत्या इस संकट भरे समय में निराशा और अतिरेक से उठाया गया कदम है जो वह अभिव्यक्ति के रूप में हमरे सामने रखता चला जा रहा है।

मौजूदा दौर में किसान और कृषि की कठिनाई को दूर करने के लिए जरूरी है कि किसान समुदाय के बीच से कोई 'भूमि संतान' आयें जो वृहत्तर ग्राम और किसान आंदोलन के माध्यम से जाति, समुदाय और क्षेत्र में बंटे किसान में वर्गीय चेतना का संचार करे और उसके अस्तित्व की लड़ाई को आगे ले जाए। ऐसे समय को ध्यान में रख कर ही अंतोनियों ग्राम्शी ने प्रिज़न नोटेबुक में लिखा है- 'किसान हमेशा सोचता है कि कम से कम उसके बेटों में एक तो जरूर बुद्धिजीवी बनें; वह इसलिए ऐसा चाहता है क्योंकि किराए के बुद्धिजीवी उसके जीवन और भविष्य की मुक्ति की ईमानदार लड़ाई नहीं लड़ सकते हैं। इसका एक ही हल है कि इस समुदाय के कोख से अपना बुद्धिजीवी आना चाहिए'।

किसानों की अस्मिता और उसके अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए जरूरी है कि किसान हित को ध्यान में रखकर राजनीति हो तथा अर्थनीति का संचालन करने वाली व्यवस्था में किसान के हर वर्ग का प्रतिनिधित्व हो। भूमिहीन और भूमिधर किसान के बीच वर्गीय चेतना का प्रसार हो जिसके जरिये किसान के संरचनात्मक बदलाव को लाकर लोकतान्त्रिक भारत के नींव को मजबूत किया जा सकें।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रंथ

(उपन्यास)

1. बनाफर चन्द्र - जमीन, यात्री प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004
2. राजू शर्मा - हलफ़नामा, राधाकृष्ण प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण,2006
3. वीरेंद्र जैन - डूब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति संस्करण, 2014
4. शिवमूर्ति -आखिरी छलांग, नया ज्ञानोदय पत्रिका में जनवरी 2008
5. संजीव - फाँस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2005
6. सुनील चतुर्वेदी -कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

(कहानी)

1. अनीता भारती-बीज बैंक, एक थी कोटेवाली तथा अन्य कहानियां, प्रकाशक-लोकमित्र,2012, प्रथम संस्करण
2. अरुण कुमार असफल - तरबूज का बीज , परिकथा पत्रिका 2010
3. कैलाश बनवासी - बाजार में रामधन, वसुधा, कहानी विशेषांक,1997
4. गौरीनाथ - बीज भोजी, पहल 90वां अंक,2008
5. जयनंदन- छोटा किसान,आजकल पत्रिका,1995 (मई-जून अंक)
6. महेश कटारे - कुलाल में हंटर, अभिनव कदम अंक-27,2012
7. विजयकांत- इंद्रजाल, संपादक-राजेंद्र यादव, हंस, नई दिल्ली, अंक-1 अगस्त,2006
8. सत्यनारायण पटेल - लाल छिट वाली गुदड़ी का सपना, कहानी संग्रह से,अंतिका प्रकाशन, 2011, प्रथम संस्करण
9. सुभाषचन्द्र कुशवाहा- तिलेसरी,कथा मे गाँव, स. सुभाषचंद्र कुशवाहा,संवाद प्रकाशन, 2006, प्रथम संस्करण

सहायक ग्रन्थ

1. अच्युतानंद मिश्र - साहित्य की समकालीनता, सम्पादक, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015
2. अयोध्या सिंह - समाजवाद: भारतीय जनता का संघर्ष, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007.
3. अरुण प्रकाश - कहानी के फलक, अंतिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014ई.
4. अंतोनियो ग्राम्शी - सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, अनु.-कृष्णकांत मिश्र, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन-2012
5. ए. आर. देसाई - भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, रावत पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, 2009
6. किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन,2000ई.
7. ग्यार्ग लुकाच - इतिहास और वर्ग चेतना (अनु.- नरेश नदीम, प्रकाशन संस्थान,2005)ई.
8. जयदीप हर्डीकर - यहाँ एक गाँव था, अनुवादक- प्रकाश हर्डीकर, पेंगुइन बुक्स, दिल्ली, हिंदी प्रथम संस्करण 2013
9. जी. एस. भल्ला - भारतीय कृषि आज़ादी के बाद (अनु.- रजनीश कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, NBT, 2010)ई.
10. जे.पी. सिंह - आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, PHI लर्निंग, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2016
11. टेरी ईगल्टन - मार्क्सवाद और साहित्यालोचन(अनु.-वैभव सिंह, आधार प्रकाशन,2013)ई.
12. नामवर सिंह (सं.) - आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
13. निर्मल वर्मा (सं.) - प्रेमचंद रचना संचयन, कमल किशोरे गोयनका, साहित्य अकादमी, पुनर्मुद्रण-2012, नई दिल्ली

14. प्रभात पटनायक - भारत के आर्थिक विकास के आयाम, अनुवादक-राजेंडर शर्मा, सहमत, पुनर्मुद्रित-1999
15. प्रेमचंद - गोदान , वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण 2002.
16. पुष्पराज - नंदीग्राम डायरी, पेंगुइन बुक्स, 2009ई.
17. महाश्वेता देवी(सं.) - खाद्य संकट की चुनौती, वाणी प्रकाशन, 2009ई.
18. महेश कटारे - छछिया भर छाछ, अंतिका प्रकाशन, 2010, प्रथम संस्करण
19. रजनी कोठारी - भारत में राजनीति कल और आज (अनु.-अभय कु. दुबे, वाणी प्रकाशन, 2005) पपेरबैक संस्करण
20. रश्मि चौधरी, देवेन्द्र चौबे (सं.) - आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के कुछ साहित्यिक स्त्रोत, प्रकाशन संसथान नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2016
21. राकेश रेणु (सं.) - समकालीन हिंदी कहानियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 1992
22. रामज्ञा शशिधर - किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन, अंतिका प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012
23. रैल्फ फॉक्स - उपन्यास और जनसमुदाय (अनु.-नरोत्तम नागर,आलोक कौशिक, परिकल्पना प्रकाशन,2006)ई.
24. विनोद मिश्रा - संकलित रचनाएँ, समकालीन प्रकाशन, पटना, दूसरा संस्करण-2013
25. श्यामचरण दुबे - विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1996
26. सत्यनारायण पटेल- लाल छींट वाली लुगडी का सपना, अंतिका प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011

27. सियाराम शर्मा - भारत का गहराता कृषि संकट और किसानों की आत्महत्याएं, साम्य पुस्तिका-17, अम्बिकापुर, प्रकाशन वर्ष-2015
28. सुनील खिलनानी - भारतनामा (अनु.-अभय कु. दुबे, राजकमल प्रकाशन, 2001). प्रथम संस्करण
29. सुभाषचंद्र कुशवाहा- कथा में गांव, संवाद प्रकाशन, मेरठ, दूसरा संस्करण-2010ई.
30. सुरेन्द्र पाल सिंह (सं.) - कृषि संकट, बदल रहा हैं किसान आन्दोलन, देस हरियाणा, कुरुक्षेत्र, 2018
31. हरिशंकर प्रसाद - खेतिहर समाज, फिलहाल, पटना, प्रथम संस्करण 2006
32. हेमंत - बतकही बिहार की, राजकमल प्रकाशन, 2012ई.
33. विश्व खाद्य संकट- मंथली रिव्यु में जुलाई-अगस्त 1998 और जुलाई-अगस्त 2009 के अंकों में प्रकाशित लेखों का हिंदी अनुवाद, गार्गी प्रकाशन, दिल्ली

ENGLISH BOOKS:

1. karl Marx- Genesis of the capitalist former, capital vol. 1 Moscow: progress publishers, 1965 pp.
2. Raymond Williams- Marxism and Literature, Oxford University Press, New Delhi, 2016
3. Ranjit Guha- Elementary aspect of peasant insurgency in colonial india, Oxford Uuniversity Press, 1983
4. V.I.Lenin, The Development of Capitalism in Russia, Progress Publishers, Moscow, 1977
5. Y.V.KrishnaRao, Agrarian Scenario*: 1947-1997,* Navkamataka Publications, Bangalore, 1999

पत्रिका:

1. अकार, अंक-43, सितम्बर 2015- मार्च 2016
2. अभिनव कदम, संयुतांक -27 अंक
3. इस्पातिका, संयुतांक 6-7,
4. कथा, पत्रिका अंक-21
5. कथादेश, किसान विशेषांक,2013ई.
6. किसान, सितम्बर, 2016
7. परिकथा, 2010ई.
8. पहल, 89वां अंक
9. फिलहाल अगस्त,सितम्बर,2015, मार्च 2018
10. संवेद, 60, 73,74,75
11. समकालीन जनमत, मई, 2015, दिसम्बर 2017
12. सहमत मुक्तनाद, सम्पादन- राजेंद्र शर्मा
13. हंस, अगस्त, 2006
14. EPW- vol. 26, 27, 52, 53

इन्टरनेट सामग्री :

1. www.forwardpress.in
2. www.rachnakar.com,
3. www.hindisamay.com
4. www.jlsindia.org
5. www.sampadkiya.com
6. www.dw.com
7. www.communistparty.in
8. www.cpim.org

9. www.rediff.com
10. www.bbc.com
11. hindi.indiawaterportal.org
12. www.gaonconnection.com
13. www.yathawat.com
14. www.ncrb.in
15. www.kisanhelp.in
16. www.krishakayog.gov.in
17. www.planningcommission.gov.in
18. www.cuts-international.org
19. www.samalochan.blogspot.in
20. www.sitabdiyara.blogspot.com
21. www.anvpublication.org
22. www.thewire.in
23. www.thehindu.com
24. www.hindustantimes.com
25. www.business-standard.com
26. www.apnimaati.com
27. hindi.newsclick.in
28. www.indianexpress.com
29. www.hindkisan.com
30. www.youtube.com